जीवन का सत्य

लेखक
मोहनसिंह सेंगर

प्रकाशक
किताब महल • इलाहाबाद

'ई' को

आमुख

एक ओर लिखित और मौखिक आदर्शों का सत्य है और दूसरी ओर जीवन का---दैनन्दिन आचरण का---सत्य। इसी दूसरी क़िस्म के सत्य से सम्बन्धित कुछ घटनाओं की लेखक के मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसीका परिणाम हैं प्रस्तुत संग्रह की कहानियाँ। ये कैसी हैं, यह पाठक देखें, जानें।

सत्य घटनाओं पर आधारित होते हुए भी इन कहानियों की वस्तु और पात्र कल्पित हैं और किसी या किन्हीं जीवित व्यक्तियों से उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नहीं।

'विशाल भारत'-कार्यालय
कलकत्ता; १ जनवरी, १९४७

मो० सिं० सेंगर

सूची

जीवन का सत्य

पूरे तीन घंटे हाइड-पार्क की ख़ाक छान कर जब मैं लौटा, तो काफ़ी थकान मालूम हो रही थी। शाम को एक जगह भोजन का और दूसरी जगह नाच का प्रोग्राम था और मुझमें दस क़दम चलने का भी दम नहीं रह गया था। इस खोये हुए दम को प्राप्त करने के लिए मैंने थोड़ी-सी शराब पी और फिर ऐवेना (खाद्य) के डिब्बे की शरण ली। अभी मैं आधी मंज़िल ही तय कर पाया था कि किसी के दरवाज़े पर दस्तक देने की आहट हुई। नौकर इन दिनों कोई था नहीं, इसलिए ख़ुद ही शराबी की तरह लड़खड़ाते हुए जाकर मैंने दरवाज़ा खोला।

देखा, सामने एक सतरह-अठारह वर्ष की मलिन-वसना युवती खड़ी है, जिसकी जवानी ग़रीबी की मार से मुरझा-सी रही है। बाल उसके उलझे-उलझाये और शुष्क हैं। मुँह पर चिन्ता की परछाईं स्पष्ट झलक रही है। सर्दी से वह कुछ काँप भी रही है। ज्योंही मेरी उससे चार आँखें हुईं, मैंने देखा कि उसकी आँखों में आँसू उमड़ रहे हैं। मुझे देखते ही उसने अपने आँसुओं को आँखों ही आँखों में पीने का प्रयास करते हुए कृत्रिम मुस्कराहट के साथ अभिवादन करके कहा—'माफ़ कीजिएगा, मैंने आपको बेवक़्त तकलीफ़ दी। आप शायद कहीं डिनर और डान्स में जाने की तैयारी कर रहे होंगे।'

मैं हक्का-बक्का रह गया! डिनर और डान्स में मुझे जाना ज़रूर था, पर इसे यह सब कैसे मालूम हुआ? किसी भेदिये या गुप्तचर से तो इसका सम्बन्ध नहीं है? युवती को देखते ही उसके प्रति मेरे हृदय में दया और सहानुभूति का जो सागर उमड़ पड़ा था, वह वायु के झोंके की भाँति एक लहमे में ही तिरोहित हो गया और तरह-तरह की शङ्काएँ मेरे मन

में उठने लगीं। एक प्रश्न-भरी दृष्टि से उसे एड़ी से चोटी तक देख कर मैं बोला—'यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो चलिए, बैठक में चल कर बातें करें।'

'ओह, बड़ी ख़ुशी से। शुक्रिया। आप कितने मेहरबान हैं!'—युवती ने उसी सङ्कोच के साथ मुस्करा कर कहा और मेरे पीछे-पीछे ड्राइङ्ग-रूम की ओर चल पड़ी।

कमरे में पहुँच कर मैंने एक कुर्सी खींच कर उससे बैठने का अनुरोध करते हुए कहा—'बैठिए। क्षमा कीजिएगा, मैंने आपको पहचाना नहीं।'

'ओह, आप भी कैसी अजीब बात कर रहे हैं!'—उसने खिलखिला कर कहा—'पहचानते कहाँ से, आपसे तो मेरी कभी भेंट ही नहीं हुई। मुझे लन्दन में आये अभी यह कुल चौथा दिन है।'

'अच्छा, तो आप लन्दन में अभी हाल ही में आई हैं?'

'जी हाँ, इसी पिछले मङ्गलवार को।'

'तो कहिए, मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ?'

'ओह, करना तो मैं आपके लिए कुछ चाहती हूँ। हाँ, आप चाहें, तो मेरी कुछ सहायता ज़रूर कर सकते हैं।'

'किस तरह? आपका मतलब किसी काम से....'

'हाँ, हाँ, मैं काम ही तो चाहती हूँ। लन्दन में भटकते-भटकते पूरे तीन दिन हो गये, पर कोई काम नहीं मिला। आज प्रातःकाल से यही सङ्कल्प करके निकली हूँ कि जितने हिन्दुस्तानी लन्दन में रहते हैं, उन सब के पास काम की तलाश में जाऊँगी। आप लोगों की सहृदयता और दयालुता के क़िस्से बचपन से सुनती रही हूँ। आप लोग आपद्ग्रस्त को शरण देते हैं और शत्रु तक को गाढ़े समय में सहायता करने से नहीं झिझकते। आप लोगों के देश में दया धर्म के पर्याय-पद पर आसीन है। मुझे विश्वास है कि आप मेरी दयनीय दशा पर रहम कर मुझे इस समय अपने यहाँ

नौकरानी के तौर पर अवश्य रख लेंगे। इस समय में बड़े सङ्कट में हूँ। आप अवश्य मेरी कुछ सहायता करें।'

मैं अब तक आगन्तुका से इतनी नम्रता और शिष्टता से पेश आ रहा था, जैसे कोई बड़े भारी लॉर्ड की पत्नी मुझसे मिलने आई हो! पर जब उसने नौकरानी के तौर पर रहने की बात कही, तो जैसे मेरे पाँवों के नीचे से ज़मीन ही खिसक गई। अपने-आपको सँभालते हुए मैंने कहा—'लेकिन मुझे तो इस समय किसी नौकरानी की ज़रूरत नहीं है।'

'ज़रूरत नहीं? या आप मुझसे पिण्ड छुड़ाने के लिए ऐसा कह रहे है।'

'तुम जो भी समझो'—मैंने मुस्करा कर कहा।

सहसा उसकी सजल आँखों से आग-सी निकलने लगी। भौंहों में बल डालते हुए उसने कहा—'लेकिन आप इस व्यंग्य और क्रूरता के साथ हँस क्यों रहे हैं? क्या मैं पागल हूँ? बदशकल हूँ? या तमाशा हूँ? मैं आपसे भीख नहीं चाहती; परिश्रमपूर्वक आपकी सेवा करके सिर्फ़ गुज़ारे-भर की सहायता चाहती हूँ। इसमें हँसने की क्या बात है?'

'ओह, आप तो बुरा मान गईं। निस्सन्देह मेरा स्वभाव ही हँसने का है, लेकिन आप यह कदापि न समझें कि मैं आपकी ग़रीबी या बुरे हाल पर हँस रहा हूँ। जब आप हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों के बारे में इतना जानती हैं, तो मुझे विश्वास है कि आपको मेरे बारे में किसी प्रकार की ग़लतफ़हमी नहीं होगी। दरअसल मुझे इस समय किसी नौकरानी की ज़रूरत नहीं है, अन्यथा मैं आपको अवश्य रख लेता। आप इस लाचारी के लिए मुझे क्षमा करें।'

'क्षमा करूँ?'—सजल आँखों से मेरी ओर देखते हुए उसने कहा—'मै आपको क्षमा कर सकती हूँ, पर मेरा पेट तो मुझे क्षमा नहीं करेगा।'

'दरअसल मुझे बड़ा खेद है कि मैं आपकी कोई सहायता नहीं कर सका।'

'और आपके इस खेद के लिए मैं तहेदिल से आपका शुक्रिया अदा करती हूँ ! बस, अब तो आपका कलेजा ठण्डा हो गया न ?'—एक क्रूर हँसी हँसती हुई वह सहसा उठ खड़ी हुई। मैंने देखा, उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे ! मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही वह दरवाज़ा खोल कर बाहर जा चुकी थी। उसे वापस बुलाने का मुझमें साहस नहीं था।

यदि उसके प्रश्न ने मुझे सन्देह में न डाल दिया होता, तो अवश्य ही मैं उसकी कुछ सहायता करता। पर अब अवसर कहाँ था ?

– २ –

कई दिन बीत गये और मैं उस युवती को भूलने की कोशिश करने लगा। न मालूम क्यों, अच्छा न होने पर भी, बार-बार मुझे उसकी मुरझाई हुई मुख-मुद्रा और छोटी-छोटी सजल नीली आँखों का ध्यान आता और मैं उसे भूलने की कोशिश करने के बावजूद भूल नहीं पाता। समझ में नहीं आ रहा था कि आख़िर क्यों मेरा ध्यान उस ओर से हटाये नही हट रहा।

उस दिन उसके नाराज़ होकर चले जाने पर मुझे अपने-आप पर बड़ी खिन्नता हुई थी कि मैं उसकी कुछ भी सहायता क्यों नहीं कर सका ? नौकरानी की ज़रूरत होने पर भी मैंने आख़िर उसे रखने से इन्कार क्यों कर दिया ? यह झूठी शान और थोथा अभिमान भी आखिर किस काम का ? वह भी आखिर कहीं से सुन-सुना कर ही तो आई होगी कि मुझे नौकरानी की ज़रूरत है। फिर मैंने जिस बेरुख़ाई से उससे बातें कीं, वैसी बातों से किसका दिल टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाता ?

इसी समय इण्टरवल की घण्टी बजी और ऑपेरा की सारी बत्तियाँ बुझे हुए हृदय की स्मृतियों-सी जल उठीं। सेण्ट की ख़ुशबू और सिगरेटों के धुएँ में से मेरी आँखें जैसे किसी खोई हुई चीज़ को खोजने-सी लगीं। मुझे अन्यमनस्क देख कर मेरे पास बैठी हुई मेरी मित्र मिस थैरेसा ने मेरा

कन्धा पकड़ कर हिलाते हुए कहा—'क्यों मिस्टर वर्मा, आपको यह आख़िरी सीन कैसा लगा ?'

'बहुत बढ़िया'—मेरे मुँह से बिना सोचे-विचारे सहसा निकल गया।

'बहुत बढ़िया !'—आश्चर्य से मेरी ओर ताकते हुए मिस थैरेसा ने कहा—'यह आप क्या कह रहे हैं ? वह तो बड़ा ही भयङ्कर और डरावना दृश्य था ? अगर आप मेरे पास न बैठे होते, तो शायद मैं चीख़ उठती।'

मिस थैरेसा ने क्या कहा, यह मैंने नहीं सुना। मेरी आँखें अपनी खोज में लगी थीं—और साथ में सारा ध्यान और कान भी। इसी समय दाहिनी ओर से आवाज़ आई—'सिगरेट लीजिएगा ?'

'नहीं, धन्यवाद'—बिना उस ओर देखे ही मैंने कहा और बराबर सामने की ओर ही देखता रहा।

'ओह, आप हैं; भला आप सिगरेट ख़रीद कर मेरी मदद क्यों करने लगे ?'—फिर उसी ओर से आवाज़ आई।

सहसा मेरी आँखें उस ओर मुड़ीं और यह देख कर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि यह सिगरेट बेचनेवाली लड़की वही थी, जो उस दिन सन्ध्या समय मेरे घर आई थी। मैं उससे कुछ कहने ही वाला था कि व्यंग्य और शायद घृणा के साथ एक तीखी नज़र मुझ पर डाल कर वह आगे बढ़ गई। मैं और भी जल उठा और लज्जा से जैसे गड़-सा गया। जी में आया कि उसे आवाज़ देकर बुलाऊँ, पर मुझे उसका नाम तो मालूम ही नहीं था, पुकारता कैसे ?

इण्टरवल ख़त्म होने तक मैं आँखें फाड़-फाड़ कर उसे देखता रहा, पर वह भीड़ में ऐसी मिल गई कि फिर दिखाई ही न पड़ी। मुझे उसके इस व्यवहार पर दु:ख भी हुआ और आश्चर्य भी। समझ में नहीं आया कि नौकरानी न रख कर मैंने उसके साथ ऐसा क्या अन्याय या जुल्म किया था, जो वह मुझसे इस तरह नाराज़ हो गई ?

इसी समय खेल शुरू हो गया और हम लोग फिर उसे देखने लग गये। यद्यपि मेरी आँखें मंच पर थीं, किन्तु मन जैसे उसी लड़की को ढूँढ़ रहा हो। कई बार मुझे भ्रम हुआ जैसे वह आकर मेरे पीछे खड़ी हुई है और मुझसे सिगरेट लेने के लिए पूछ रही है। पर जब मैंने पीछे घूम कर देखा, तो मुझे पीछे की पंक्ति में बैठी हुई एक भद्र महिला के मुँह से यह सुन कर आश्चर्य हुआ कि आप बार-बार इधर क्या देख रहे हैं? और मुझ पर जैसे घड़ों पानी पड़ गया। इधर मिस थैरेसा मेरे न बोलने से मुँह चढ़ा कर ग़ुस्से से आग-बबूला हुई जा रही थीं। पीछे बैठी हुई महिला की बात सुन कर तो वह एकदम हँस पड़ी और बिना मेरी ओर देखे ही बोली—'यह हिन्दुस्तान नहीं है। यहाँ ज़रा तमीज़ और तहज़ीब से रहना होगा!'

'ओह, इस सलाह और चेतावनी के लिए आपका बहुत-बहुत शुक्रिया' —मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा।

'इसकी कोई ज़रूरत नहीं'—अपना हाथ मेरे हाथ में से खींचते हुए रुष्ट स्वर में थैरेसा ने कहा।

खेल ख़त्म हुआ और हम दोनों बिना एक-दूसरे से बोले-चाले बाहर आये। मेरी आँखें अब भी उस लड़की को ढूँढ़ रही थीं। सिगरेट बेचनेवाली कई लड़कियों पर मेरी नज़र गई, पर उनमें वह लड़की दिखाई नहीं दी। थैरेसा ने इसी समय एक टैक्सी को इशारा करके बुलाया और हम दोनों उस पर सवार हुए। मेरे मन की इस समय कैसी दशा हो रही थी, यह कह कर नहीं बतला सकता। टैक्सी अभी रवाना ही होनेवाली थी कि दूसरी ओर की खिड़की के पास से आवाज़ आई—'गुडनाइट!'

मेरी नज़र सहसा उधर गई और मैंने ज़ोर से शोफ़र का कन्धा पकड़ कर कहा—'ज़रा ठहरो'; और दरवाज़ा खोल कर बाहर निकल आया। देखा, हल्के नीले फ़्रॉक से ढँका उस लड़की का दुबला-पतला शरीर सर्दी

के कारण थरथरा रहा है। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा—'मैं तुम्हारा नाम जान सकता हूँ?'

'क्या करेंगे आप मेरा नाम जान कर?'—उसने उसी तीव्र स्वर में उत्तर दिया। 'समझ लीजिए कि मैं एक सिगरेट बेचनेवाली आवारा लड़की हूँ। इससे अधिक मेरे बारे में आप और क्या जानना चाहते हैं?'

'मैं तुम्हारा नाम सिर्फ़ इसलिए जानना चाहता हूँ कि मैंने तुम्हें कल से ही अपने यहाँ रख लेने का निश्चय किया है; पर नौकर की तरह नहीं, एक साथी की तरह। बोलो, तुम्हें स्वीकार है?'

'ओह, बड़ी ख़ुशी से। आपका बहुत-बहुत शुक्रिया। यही तो मैं चाहती थी। आपने मुझसे पहले यह बात क्यों नहीं कही? मेरा नाम है हेलेन।'

'अच्छा हेलेन, तो कल सुबह आ जाना।'

'ज़रूर, ज़रूर'—कह कर वह खिलखिला उठी।

मैं मोटर में आ बैठा और मोटर चल पड़ी। थैरेसा का मुँह और भी लाल हो गया था।

— ३ —

'लेकिन आप किस बिना पर यह इकतरफ़ा डिगरी दे रहे हैं, मिस्टर वर्मा?'—हेलेन ने सधे हुए स्वर में कहा—'इस बात को हर्गिज़ न भूलिए कि औरत और ग़रीब ऐसा कोई काम नहीं करते, जिसमें उनके 'मालिक' कहे जानेवाले नर-पिशाच की ज़िम्मेदारी का अपराध न हो! वे ख़ुद अपराध करके भी परिस्थितियों की मजबूरी के कारण दण्डनीय नहीं हैं। अपराध एक तरह से उन पर ज़बर्दस्ती थोपा जाता है।'

'अच्छा तुम्हारी बात ही ठीक है, बस।'—मैंने हेलेन को सान्त्वना देते हुए कहा—'पर हम इस बहस में पड़ें ही क्यों? पहले तुम अपना

पूरा क़िस्सा तो ठीक-ठीक बतलाओ। मैं वादा करता हूँ कि अब बीच में तुम्हारी बात नहीं काटूँगा और न बहस ही करूँगा।'

'अच्छी बात है, तो फिर सुनिए। जब आप मुझ पर इतना विश्वास करते हैं, तो मैं आपसे दुराव क्यों रक्खूँ ?'

और यह कह कर हेलेन ने अपना क़िस्सा कहना शुरू किया—'शहर से हमारा फ़ार्म १७ मील दूर पड़ता था। बीच में एक नदी थी, जो सर्दी में जम जाया करती थी। दूसरी ओर बियाबान जङ्गल था। फ़ार्म से मिला हुआ ही हमारा मकान था। जिस साल की यह बात है, उस साल सर्दी की अधिकता से चारों ओर बर्फ़ जम गई थी और हम लोग शहर से बिल्कुल अलहदा-से हो गये थे। माँ और पिता जी में वैसे तो अक़सर तकरार हो जाया करती थी, पर उस दिन कुछ अधिक कहा-सुनी पर नौबत आ गई और माँ रूठ कर ऊपरवाले कमरे में चली गईं। हम सब भूखे थे, क्योंकि शाम को खाने के लिए कुछ बना ही न था। हाड़ कँपा देनेवाली सर्दी में उस रात हमारा समूचा परिवार भूखा ही सोया।

'मेरी मेरी बड़ी बहन थी। वह अब भी है। उसकी उम्र कोई इक्कीस वर्ष के लगभग है। जब दूसरे दिन ग्यारह-बारह बजे तक भी माँ नीचे नहीं आईं, तो पिता जी ने घर की सारी ज़िम्मेदारी मेरी पर छोड़ दी और आज भी सारे घर की देख-भाल वही कर रही है। पर घर के साथ ही साथ मेरी किसी अन्य क्षेत्र में भी माँ का स्थान लेने जा रही है, इसकी मैंने कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। आगे की बात कैसे कहूँ, यह समझ में नहीं आता। उसका स्मरण-मात्र ही हृदय को कँपा देता है और कलेजा जैसे मुँह को आता है। आप शायद उस पर सहज ही विश्वास भी न कर सकें; पर दरअसल वह जीवन का एक कटु सत्य है—बहुत ही तीखा और अपवादपूर्ण। आप चाहे उस पर विश्वास करें या न करें, पर है वह खरा सत्य ही!'

इतना कह कर हेलेन ने डबडबाई आँखों से एक बार नज़र उठा कर

मेरी ओर देखा और दूसरे ही क्षण दोनों हाथों से मुँह ढाँक कर फफक-फफक कर रोने लगी। मेरी कुछ भी समझ में नहीं आया कि आखिर ऐसी क्या बात है? वह ऐसी क्या बात कहने जा रही है? उसे सान्त्वना देते हुए मैंने कहा—'तुम इस तरह दुखी क्यों हो रही हो हेलेन, सारी बात मुझसे साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहतीं? मैं तुम्हारी बात पर पूरा-पूरा विश्वास करूँगा और शायद तुम्हारी या तुम्हारे परिवार की कुछ सहायता भी कर सकूँ।'

'आप क्या, दुनिया का कोई भी आदमी शायद पहले-पहल सुन कर उस बात पर विश्वास नहीं करेगा, लेकिन है वह सौ फ़ीसदी सत्य। अगर आप मुझे, मेरी आँखों और कानों को, एकदम झूठा नहीं मानते, तो आप भी उस पर विश्वास करेंगे। आपको विश्वास करना ही पड़ेगा। मैं कभी झूठ नहीं बोलती। मेरी कभी झूठ नहीं बोलती। ओह, ईश्वर हमें मौत क्यो नही दे देता....'—और वह फिर फफक-फफक कर रोने लगी।

'तो क्या, तुम अपनी बात नहीं कहोगी?'

कुछ सँभल कर हेलेन ने कहा—'नहीं; कहूँगी क्यों नही? भला आप से ही छुपाऊँगी? अच्छा, तो ज़रा कान खोल कर सुनिए। माँ की कर्कशता और मेरी के विनम्र सेवा-भाव ने हमारे घर में—और शायद सभ्यता के इस युग में भी—एक नई घटना की सृष्टि की। अनिन्द्य सुन्दरी मेरी थी ही। उठती हुई जवानी ने शायद उसे एक सीधी-सादी लड़की के सिवा कुछ और भी बना दिया था। पिता जी के जीवन में भी माँ की उपेक्षा के बाद से एक तूफ़ान-सा आया हुआ था। एक दिन मैंने जाना कि वे उसे—मेरी को; मेरी सगी बहन और अपनी सगी बेटी मेरी को—प्रेम करने लगे हैं! ओह ईश्वर! मेरा मतलब यहाँ प्रेम से उस पाशविक वासना से है, जो नर को नराधम बना देती है! वह भड़की और जैसे सारे घर में आग-सी लग गई।'—इतना कह कर हेलेन जैसे पछाड़ खाकर फ़र्श पर गिर पड़ी।

मैं बुरी तरह चौंक पड़ा—जैसे भात खाते-खाते कोई बड़ा-सा कङ्कर दाँतों-तले आ गया हो और झुँझला कर चिल्ला उठा—'अरे, तुम्हें यह क्या हो गया, हेलेन ? यह तुम क्या कह रही हो ? तुम्हें ठीक-ठीक मालूम है कि जो-कुछ तुम कह रही हो, उसका अर्थ भी तुम भली-भाँति समझती हो ?'

हेलेन आँसू पोंछते हुए उठ खड़ी हुई। बोली—'ओह, तो आप मुझे इतनी मासूम बच्ची समझ रहे हैं ? इसीलिए तो मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि यह जीवन का एक कटु सत्य है और आपको इस पर विश्वास करना ही होगा।'

'यह कैसे सम्भव है कि आदमी इतना गिर जाय ?'

'इतनी समझ तो अभी मुझ में नहीं आ पाई है कि इसे पतन कहूँ या और कुछ; पर है यह सौ फ़ीसदी सत्य। मेरे पिता और मेरी—आज उनके पतन के बाद भी जीवित हैं—और उन दोनों को ताने मारनेवाली मेरी कर्कशा माँ भी।'

'अच्छा, मैं तुम्हारी बात पर विश्वास करता हूँ, पर क्या तुम मुझे एक बार मेरी से मिला सकती हो ? मैं उससे कुछ बातें करूँगा।'

'शौक़ से। लेकिन मैं स्वयं अब वहाँ हर्गिज़ नहीं जाऊँगी। मेरी ने मुझे वहाँ फिर कभी न जाने की क़सम दिला दी है। आप चाहें, तो मेरा पत्र लेकर वहाँ जा सकते हैं।'

कुछ क्षण सोच कर मैंने कहा—'अच्छा, यही सही। कल शाम की गाड़ी से मैं जाऊँगा। अपनी चिट्ठी और सारा सामान तुम तैयार करके रखना।'

स्वीकृति में हेलेन ने सिर हिला दिया और आँसू पोंछते हुए अपनी सारी उदासी को वहीं छोड़ कर कमरे से बाहर निकल गई। उसके म्लान और विवर्ण मुख की आभा देखते ही बनती थी।

— ४ —

बर्फ़ अभी पिघली तो नहीं थी, पर इतनी सख़्त भी नहीं रह गई थी कि उस पर सवारियाँ आसानी से चल सकें। हर जगह मुलायम बर्फ़ में सवारी के धँस जाने और कहीं-कहीं डूब जाने तक का ख़तरा था। पर हेलेन ने मेरे दिल में कुछ ऐसी आग-सी लगा दी थी कि मेरी से मिले बिना मुझसे अब एक क्षण भी रहा नहीं जा रहा था। हेलेन ने बहुतेरा समझाया कि बसन्त के अन्त तक सब रास्ते साफ़ हो जायँगे, तब जाने में सुविधा रहेगी। पर मैंने उसकी एक भी बात न मानी और एक स्लेज-वाले को मुँह-माँगा किराया देकर मेरी के घर की ओर चल ही तो पड़ा।

एक भूरे-से घर के सामने जाकर स्लेज रुकी। मैंने हेलेन के बतलाये हुए चिन्हों को याद कर उसके घर को पहचानने की कोशिश की। अभी मैं ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पाया था कि आया यही घर मेरी का है या कोई दूसरा; इतने में ही उस घर का दरवाज़ा खुला और एक युवती ने—जिसका चेहरा-मोहरा बहुत कुछ हेलेन द्वारा बतलाये हुए हुलिए से मिलता था—मुझे अभिवादन कर सकुचाते हुए पूछा—'आप यहाँ किसे खोज रहे हैं ? क्या मैं आपकी कुछ सहायता कर सकती हूँ ?'

'मैं—मैं मेरी इलेनर का मकान ढूँढ़ रहा हूँ। क्या आप कृपा....'

'ओह, तो भीतर चले आइए। मेरा ही नाम है मेरी इलेनर'—मेरी बात काटते हुए युवती ने उसी सङ्कोच से मुस्करा कर कहा और आगे बढ़ कर मेरा सूटकेस उठा लिया। मैंने मेरी का बहुत-बहुत धन्यवाद किया, एक प्रश्न-भरी दृष्टि से उसे नीचे से ऊपर तक ग़ौर से देखा और दूसरे ही क्षण उसके पीछे-पीछे घर के भीतर चल दिया।

एक कमरे में पहुँच कर मेरी ने मेरा सामान रखवाया और कुर्सी की ओर इशारा करते हुए कहा—'बैठिए। पहले आप यह बतलाइए कि चाय पियेंगे या क़हवा ?'

'दोनों में से कुछ भी पी सकता हूँ'—मेरे मुँह से सहज भाव से निकल गया। दूसरे ही क्षण मुझे अपनी बात का ख़याल आया और मैंने जेब से हेलेन का पत्र निकाल कर उसे देते हुए कहा—'लेकिन खाने-पीने की अभी जल्दी नही है। पहले इसे पढ़ो। मैं एक ख़ास काम से यहाँ आया हूँ।'

मेरी ने एक ही साँस में हेलेन का पत्र पूरा पढ़ लिया। पत्र पढ़ते समय उसके चेहरे पर जो मलिनता और उदासी छाती जा रही थी, उसे मै स्पष्ट देख रहा था। पत्र समाप्त कर उसने मोड़ कर उसे हाथ में दबा लिया और मेरी ओर कातर दृष्टि डाल कर बोली—'आप हमारे परिवार के सम्बन्ध में ऐसी क्या बातें करना चाहते है? माँ को न्यूमोनिया बिगड़ जाने के कारण पास के एक अस्पताल में भर्ती कराया गया है। अभी पिता जी वही गये हुए है। दिन-भर वही रहते है और काफ़ी रात गये लौटते है। रात को तो बातें हो नहीं सकेंगी, क्योंकि वे बहुत थके-माँदे आते है; कल सुबह ही बातचीत कीजिएगा।'

'लेकिन मेरी'—मैंने किञ्चित् आश्चर्य से कहा—'मुझे तुम्हारे पिता से नही, तुमसे बातें करनी है और वे भी केवल तुम्हारे ही सम्बन्ध में—तुम्हारे परिवार के सम्बन्ध में नहीं।'

'मेरे सम्बन्ध में?'—मेरी ने काँपते हुए होंठों से कहा—'मेरे बारे में तो हेलेन ने आपको सब-कुछ बता ही दिया होगा। उससे अधिक मैं शायद आपको कुछ भी न बता सकूँ।'

'अधिक मै कुछ नहीं जानना चाहता। पर मै तुमसे सिर्फ़ यह जानना चाहता हूँ कि क्या जो-कुछ मेरी ने कहा है, सब सत्य है?'

'हाँ, सब सत्य है—बिलकुल सत्य।'—यह कह कर सहसा मेरी आपादमस्तक काँप गई; पर उसके स्वर में आर्द्रता होते हुए भी दृढ़ता थी।

'यह तुम क्या कह रही हो, मेरी?'

'ठीक ही कह रही हूँ। क्या आप प्रत्यक्ष को भी सत्य नहीं मानते?

आखिर सत्य सिर्फ़ वही तो नहीं है, जिसे हम चाहें अथवा जो हमें अच्छा लगे। आपको आखिर मेरी बात पर सन्देह क्यों हो रहा है ?"

'सन्देह की तो कोई बात नहीं, मेरी; पर सत्य इतना विकृत और कटु भी हो सकता है, इसकी मैंने कभी कल्पना नहीं की थी।'

'सत्य की सभी सम्भावनाओं की कल्पना मनुष्य कर भी कब सका है ? और शायद कभी कर भी नहीं सकेगा।'

'तो क्या तुम अब भी अनीति के इस नरक से निकलना नहीं चाहतीं ?'

'अब इस प्रश्न का उत्तर देने का समय शायद नहीं रहा है। पर अपने दुखी पिता, रोगिणी माँ और भाई-बहनों को छोड़ कर चले जाना मेरे लिए अब सहज सम्भव नहीं जान पड़ता।'

मेरी के दुस्साहस पर अभी तक तो मुझे आश्चर्य ही हो रहा था, पर अब घृणा भी हो आई। क्रूर व्यंग्य के साथ मैंने कहा—'ओह, यह बात है ! पर मुझे सन्देह है कि तुम पितृ, मातृ या भ्रातृ-प्रेम के कारण इस नरक से निकलने को तैयार नहीं या वासना के कीचड़ में आपाद-मस्तक डूब जाने के कारण ?'

इस बार मेरी की भौंहें जरा तनीं और अपनी बड़ी-बड़ी गोल आँखों में उमड़े हुए आँसुओं को रोकने का यत्न करते हुए उसने कहा—'यह आप मेरे साथ ज़्यादती कर रहे हैं। प्रेम—वासना, उँह ! मैं इन सब को ठीक-ठीक नहीं जानती—जान कर अब करूँगी भी क्या ? पर आप क्या इसी तरह मेरा दिल जलाने आये हैं ?'

'नहीं, नहीं, हरगिज़ नहीं; भला ऐसा भी कभी हो सकता है ?'—मैंने तनिक नम्रता दिखाते हुए कहा—'मैं सिर्फ़ यह कहने यहाँ आया हूँ कि यदि तुम विवाह कर सद्गृहस्थ के रूप में जीवन बिताना चाहो, तो मैं इस कार्य में तुम्हारी भरसक सहायता करने को तैयार हूँ। पर ईश्वर के लिए इस नरक को तुम छोड़ दो।'

'आप अपने अधिकार और ज़िम्मेदारी के दायरे से बहुत आगे बढ़

रहे हैं, मिस्टर वर्मा। मैं आपके प्रश्न का अन्तिम उत्तर दे चुकी हूँ। भूलिए नहीं, यह हम लोगों की पहली मुलाक़ात है।'—मेरी ने त्योरी चढ़ा कर कहा और आवेश में आकर उठ खड़ी हुई।

मुझ पर जैसे घड़ों ठण्डा पानी पड़ गया हो! रह-रह कर मैं यही सोचता रहा कि जान-बूझ कर और अपनी खुशी से मेरी यह जीवन क्योंकर बिता रही है? वह अपने और अपने पिता के सम्बन्ध को इतना कैसे भूल गई? क्या वह इसी जीवन में सुखी और सन्तुष्ट है?

इन प्रश्नों का उत्तर मुझे आखिर नहीं ही मिला और पराजित सैनिक की तरह हताश, असफल और हतबुद्धि-सा मैं लन्दन लौट आया। फिर कभी मैंने हेलेन से मेरी का कोई ज़िक्र नहीं किया।

भाग्य या भूख ?

देवकी बाबू हाथ धोकर खाना खाने के लिए आसन पर आ बैठे थे और उनकी पत्नी थाली परोस रही थी। सहसा थाली परोसना रोक कर सुभद्रा ने कहा—"वह देखो। सुना तुमने? फिर आवाज़ आई न ?"

"फिर वही आवाज़! आवाज़! काहे की आवाज़ ?" झल्लाने के स्वर में देवकी बाबू ने कहा—"जब देखो तब वही आवाज़ की रट लगी रहती है। मैं पूछता हूँ, तुम्हें यह हो क्या गया है, सुभद्रा ? जब देखो तब वही दूसरों का राम-रसरा। कभी यह आवाज़ आई, कभी वह आवाज़ आई। मैं पूछता हूँ, तुम्हें इससे मतलब ?"

"मतलब कैसे नहीं ?" तेवर चढ़ा कर थाली परोसते हुए सुभद्रा ने कहा—"अरे पड़ोसी न सही, पर इन्सान के नाते तो तुम्हारा कुछ फ़र्ज़ है ? मैं इतने दिनों से तुमसे कह रही हूँ कि यह पड़ोसी रोज़ अपनी औरत को मारता-पीटता है। मुझसे यह सब नहीं देखा-सहा जाता। या तो जाकर उसे समझाओ-बुझाओ, या फिर यह मकान ही छोड़ दो।"

"धीरे बोलो, धीरे,"—दबी हुई आवाज़ में देवकी बाबू ने कहा—"कहीं वह सुन न ले, वर्ना लेने के देने पड़ जायँगे। ख़ामख़ा बैठे-बिठाये झगड़ा करवाओगी।"

"झगड़े की इसमें बात ही क्या है ?" थाली परोस कर पति के आगे सरकाते हुए सुभद्रा ने कहा।

"झगड़े की बात तो है ही। तुम कैसे कह सकती हो कि वह अपनी औरत को मारता है ? सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास...."

"सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास मैं नहीं करती;"—बीच में ही बात काट कर सुभद्रा ने कहा—"पर अपने ही कानों पर अविश्वास कैसे

किया जाय ? यह जो रोज़ धमाधम् मचती है, क्या सब हवा का या मेरे कानों का ही फ़ितूर है ?"

"न हो, पर धमाधम् उस पड़ोसी की औरत के पिटने की ही होती है, यह कैसे मान लिया जाय ? अक़सर ऊपर छत पर खेलते हुए बच्चे जब इधर-उधर दौड़ते हैं, तब भी ऐसा शब्द होता है ।"

"लेकिन रात को १०-१०, १२-१२ बजे किसके बच्चे छत पर खेलते और दौड़ते हैं ? तुमने तो जैसे मुझे बिलकुल पागल ही समझ रक्खा है ।"

"हर्गिज़ नहीं । ऐसा समझता, तो तुम्हारे साथ शादी ही क्यों करता ?" मुस्कराते हुए देवकी बाबू ने कहा—"लेकिन सुभद्रा, तुम यह नही सोचती कि इस ज़माने में भला कौन शरीफ़ आदमी अपनी औरत पर हाथ उठाता है ?"

"जी हाँ, क्यों नहीं ! इस अभागे देश में अब भी ऐसे नर-पिशाचों की कमी नही है, जो अपनी औरतों पर हाथ उठामे में सङ्कोच करें ।"

"देखो, हमने तो तुमको कभी फूल की छड़ी तक से नहीं छुआ ।"

"छूते कैसे ? मैं कोई मोम या मिट्टी की तो बनी हूँ नही ।"

"अच्छा-अच्छा, फिर कहो भी, बात क्या है ?"

"अभी भी क्या कुछ कहने को बाक़ी रह गया है ? इतने दिनों से तो तुमसे कह रही हूँ; पर तुम्हारे कान पर जैसे जूँ तक नहीं रेंगती । उल्टा बहस कर मुझे ही झुठलाने की कोशिश करते हो । जाने तुम भी कैसे आदमी हो ! तुम्हारा दिल है या पत्थर ?"

"तो फिर तुम्हीं बताओ, क्या करूँ ? बैठे-बिठाये उससे झगड़ा मोल लूँ ? अगर मान भी लें कि वह अपनी औरत को पीटता है, तो हम क्या करें ? जब वह उसकी औरत है, तो वह चाहे उसे पीटे, चाहे प्यार करे, चाहे और कुछ । किसी तीसरे आदमी को उनके मामले में दख़ल देने का क्या अधिकार है ?"

"जब आप-जैसे समझदार आदमी ही ऐसा कहते है, तो कपढ़ और

मूर्खों के बारे में क्या कहा जाय ? आख़िर पुरुष जो हुए ! पति के अबाध और असीम अधिकारों की दुहाई देने में हर पुरुष का स्वार्थ जो है। लेकिन क्या औरतों के जी-जान नहीं है ? उनको कुछ भी अधिकार नहीं ? पुरुष उनका मनमाना उपयोग या दुरुपयोग करें और वे चूँ भी नहीं करें ? क्या उन्हें केवल ज़ुल्म और ज़्यादती सहने-भर का ही 'अधिकार' है ?"

देवकी बाबू ने सुभद्रा के चेहरे के बदलते हुए रङ्ग से भावी सङ्कट की आशङ्का को भाँप लिया। अभी वे उसके पीहर जाने के अल्टीमेटम का सामना करने को तैयार न थे। हँस कर बात टालने के विचार से बोले—"लेकिन अधिकारों की बहस खाने के बाद भी तो हो सकती है।"

"वह तो किसी भी वक़्त हो सकती है;"—तेवर चढ़ा कर सुभद्रा ने कहा—"लेकिन बहस करता कौन है ? तुम सब पुरुष-पुरुष एक हो। सारे अधिकारों का ठेका तो तुम्हीं ने ले रक्खा है न ? औरत पिटती है, तो पिटे; ज़लील और अपमानित होती है, तो हो; तुम्हें इससे क्या ?"

इस बार कुछ भी कहने का साहस देवकी बाब को नही हुआ। कुल्ला करके वे चुपचाप बैठक में चले गये।

— २ —

देवकी बाबू के सामनेवाला मकान मनहूस है या उसमें भूतों का आवास है या कोई ख़ास ख़राबी है, ऐसा तो कभी सुना नही गया। फिर भी न मालूम क्यों, उसमें आकर रहनेवाला कोई भी किरायेदार ६-७ महीनों से ज़्यादा उसमें न टिका। इसका ठीक-ठीक कारण आज भी एक पहेली ही बना हुआ है। मुहल्ले-भर में यह बात एक ख़ासे अच्छे तज़किरे का आधार बन गई है और इस मकान में आनेवाले हर आदमी की सूरत-शक्ल और गति-विधि को मुहल्लेवाले असाधारण कुतूहल से देखते हैं।

इस बार एक बङ्गाली बाबू के जाने के बाद कौन किरायेदार आकर

उस मकान में रहा है, यह किसी को नहीं मालूम। सुना है कि नया किराये-दार एक नौजवान बाबू है और साथ में एक औरत भी है, जो शायद उसकी बीबी है। मकान के इतिहास ने आस-पास के लोगों को उनके प्रति जितना उत्सुक बनाया था, उससे कहीं अधिक उत्सुकता पैदा हुई उनके रहन-सहन के रहस्यपूर्ण ढङ्ग से। वे कब घर में रहते थे और कब बाहर, यह बहुत कम लोगों को ही मालूम होता था। घर का दरवाज़ा या तो भीतर से बन्द होता था, या उसमें बाहर से ताला लगा होता था। ऊपर के कमरे की सब खिड़कियाँ और दरवाज़े हर वक़्त बन्द रहते थे। रोशनदान से दिखाई पड़नेवाले प्रकाश से मालूम होता था कि कमरे में रोशनी हो रही है। कभी-कभी तो बाहर ताला पड़ा होता था और भीतर रोशनी जलती होती थी। इससे पैदा हुई उत्सुकता को लोग यह कह कर शान्त कर लिया करते थे कि शायद बाहर जाते समय वे लोग बिजली की बत्ती गुल करना भूल गये होंगे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि बाहर ताला पड़ा होने और ऊपर के कमरे में रोशनी होने के साथ ही साथ वहाँ से किसीके रोने या ज़ोर-ज़ोर से बोलने-बतलाने की भी आवाज़ आया करती थी। बिजली की बत्ती भी न-मालूम कितनी बार जलती और बुझती रहती थी।

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक उत्सुक थे देवकी बाबू और उनकी पत्नी सुभद्रा। अपने इन पड़ोसियों की चर्चा उनकी दिनचर्या का एक अङ्ग-सा बन गई थी। इसे लेकर रोज़ कम-से-कम एक बार उनमें हँसी-मज़ाक़ या बहस ज़रूर होती थी। ताले और रोशनी की असम्बद्धता इस रहस्य को जैसे और भी गहरा बनाती जा रही थी। कई बार सुभद्रा ने देवकी बाबू से इसके सम्बन्ध में ठीक-ठीक जानने और कुछ करने को कहा, पर उनकी समझ में ही नहीं आया कि क्या करें? अगर कुछ समझ में आ भी जाता, तब भी बदनामी के डर से कुछ करने का साहस वे अपने में नहीं पा रहे थे। काँटे के तार में उलझे हुए कुरते को निकालने के लिए धोती को

हिलगा लेना वे बुद्धिमत्ता नहीं समझ रहे थे। इसीलिए चुप थे। पर सुभद्रा के तक़ाज़े उन्हें दम नहीं लेने दे रहे थे।

उस दिन जब देवकी बाबू दफ़्तर से ज़रा देर से लौटे, तो देखा कि सुभद्रा छत पर खड़ी हुई ईंटों की जाली में से सामनेवाले मकान की ओर बड़ी तन्मयता से देख रही है। वहाँ कोई भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। खिड़कियाँ और दरवाज़े सब बदस्तूर बन्द थे। रोशनदान से प्रकाश बाहर झाँक रहा था।

हाथ से इशारा करके सुभद्रा ने देवकी बाबू को अपने पास बुलाया और चुपके से उनके कान के पास मुँह करके कहा—"यहाँ चुपचाप खड़े होकर ज़रा सुनो, क्या हो रहा है?"

दोनों साँस रोक कर चुपचाप खड़े हो गये। किवाड़ बन्द होने से सामनेवाले मकान में दिखाई तो कुछ भी नहीं दिया, पर किसीके लात-घूँसों से पिटने और सिसकने की आवाज़ ज़रूर आ रही थी। कभी-कभी किसीके कुछ बोलने का भी आभास होता था। पर कौन क्या कह रहा है, यह साफ़-साफ़ सुनाई नहीं पड़ रहा था। देवकी बाबू को जैसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था। साँस रोके हुए वे सब-कुछ बड़े ध्यान से सुन रहे थे। बीच-बीच में उन्हें ऐसी आहट भी मालूम होती थी, जैसे किसीका सिर फ़र्श या दीवार से टकरा गया हो। फिर सिसकना और रोना। अधिक देर तक वे वहाँ खड़े न रह सके। चुपचाप कमरे में जाकर कपड़े बदलने लगे।

कुछ क्षण बाद सुभद्रा ने कमरे में प्रवेश किया और बत्ती जलाई। जब दोनों ने एक-दूसरे के चेहरे की ओर देखा, तो उन्हें ऐसा लगा मानो आज उनके भाव एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न नहीं हैं। सुभद्रा की आँखों का पानी साफ़ झलक रहा था। वह गुमसुम बिजली के स्विच के पास पड़े हुए सोफ़े पर पड़ रही। देवकी बाबू के मुंह से जैसे आज कोई शब्द ही न निकल रहा हो। साहस कर, भर्राई हुई आवाज़ में, वे बोले—

"सुभद्रा, ज़रा इसकी औरत से कुछ हाल-हवाल तो मालूम करो कि आख़िर बात क्या है, तब शायद कुछ किया जा सके।"

"लेकिन कैसे करूँ? मैंने तो बहुतेरी कोशिश की, मगर उसकी तो जैसे कभी सूरत ही दिखाई नहीं देती। मकान का दरवाज़ा तो हमेशा बन्द ही रहता है। फिर भी कुछ तो होना ही चाहिए।"

"देखो, कुछ सोचेंगे।" कह कर देवकी बाबू नीचे जाने को ज़ीने की तरफ़ चल दिये।

– ३ –

सुभद्रा किसी कार्यवश ज्योंही दरवाज़े के पास आई, उसकी नज़र सामनेवाले दरवाज़े के पास खड़ी हुई एक मँझले क़द की दुबली-पतली स्त्री पर पड़ी, जो अपने मैले-कुचैले वस्त्रों को एक साफ़-सफ़ेद चादर से ढँके खड़ी थी। सुभद्रा के पाँवों की आहट पाकर उसने आँखें ऊपर की और दूसरे ही क्षण फिर नीचे कर लीं। सुभद्रा ने इस मौक़े को हाथ से न खोने का निश्चय कर एक तीर छोड़ा—"बड़े भाग्य कि आज तुम्हारे दर्शन हो गये, बहन!"

पर सामने खड़ी हुई स्त्री ने कुछ कहा नहीं। न आँखें ही ऊपर कीं।

सुभद्रा ने दूसरा तीर छोड़ा—"आज कहाँ जा रही हो, बहन?"

इस बार उसने अपनी शर्मीली आँखें ऊपर उठाईं और बड़े कातर स्वर में केवल एक शब्द कहा—"अस्पताल।"

"क्यों, क्या कुछ तबीयत ख़राब है?" सुभद्रा ने पूछा।

उत्तर में कुछ कहने के बजाय उसने आँखें फिर नीची करके स्वीकृति में सिर हिला दिया।

"तो क्या अकेली ही जाओगी?" सुभद्रा ने फिर प्रश्न किया।

"नहीं,"—उसी तरह आँखें नीची किये हुए कातर स्वर में वह बोली—"वे भी साथ जा रहे हैं। ताँगा लाने अड्डे तक गये हैं।"

"तुम कभी इधर क्यों नही आती ?"—सुभद्रा ने पूछा।

सुभद्रा का वाक्य पूरा होते-न-होते उसका पति ताँगा लेकर आ पहुँचा। उसकी बात का उत्तर वह नहीं दे सकी। सुभद्रा किवाड़ की ओट में हो गई। दोनों को लेकर ताँगा चल पड़ा—अस्पताल, या न मालूम और कही !

ताँगे के लौटने की आशा से सुभद्रा घर का थोड़ा-बहुत काम करके बार-बार दरवाज़े के पास आती और कुछ न पाकर फिर लौट जाती। ज्योंही किसी घोड़े की टापों से ताँगे के आने की आहट-सी होती, वह द्वार पर आ जाती और इच्छित व्यक्तियों को ताँगे में न पाकर फिर लौट जाती। इस तरह उसके कोई डेढ़ घण्टे तक परेड करने के बाद आख़िर वही ताँगा लौटा। पर इस बार दोनों साथ ही उतरे और भीतर जाकर दरवाज़ा बन्द कर लिया, इससे सुभद्रा को अपनी पड़ोसिन से बातचीत करने का अवसर नही मिल सका। इस पर वह कुछ खिन्न और निराश भी हुई।

इसके बाद तो सुभद्रा ने प्रायः दरवाज़े के पास ही बने रहने का जैसे नियम-सा बना लिया। जब भी कोई तांगा आता-जाता, वह अपने पड़ोसियों से भेंट होने की आशा से दरवाज़े तक आती और फिर निराश होकर लौट जाती। इस तरह कई दिन, हफ़्ते और महीने बीत गये; पर सुभद्रा को फिर कभी अपने पड़ोसियों के दर्शन नही हुए। कभी-कभी तो सुभद्रा को यह भी आशङ्का होने लगती कि कही वे मकान छोड़ कर चले ही न गये हों, क्योंकि मार-पीट की 'धमाधम्' अब बहुत कम हो गई थी। लेकिन ऊपर के कमरे के बन्द दरवाज़े और रोशनदान में से छन कर आनेवाली रोशनी इस आशङ्का को निर्मूल और निराधार बना देती थी।

— ४ —

घर के सहन में आराम-कुर्सी पर बैठी हुई सुभद्रा कुछ बुन रही थी। नीचे रखी हुई डलिया में कुछ सलाइयाँ और ऊन का एक गोला पड़ा था।

उसकी दोनों ग्राँखें दोनों हाथों की गति पर स्थिर थीं। सहसा पीछे से किसीके धीरे से खाँसने की ग्रावाज़ ग्राई। सुभद्रा ने मुड़ कर देखा। उसे ग्रपनी पड़ोसिन को पहचानने में देर न लगी। "ग्ररे, तुम ग्राज इधर कैसे भूल पड़ीं ?" कहते हुए वह हकबका कर उठ खड़ी हुई। ग्रागन्तुका को हाथ पकड़ कर कुर्सी की ग्रोर खींचते हुए वह बोली—"बैठो बहन, तुम्हारे तो फिर कभी दर्शन भी न हुए। मुझे तो तुमसे बहुत-सी बातें करनी थीं।"

ग्राँखें नीची किये हुए कातर स्वर में ग्रागन्तुका बोली—"बैठने या बातें करने का यह समय नहीं है। मैं ग्रापको एक कष्ट देने ग्राई हूँ।"

"कष्ट कैसा, जो काम हो निःसङ्कोच कहो, बहन। ग्राख़िर मैं हूँ किसलिए ?"

"उनकी तबीयत रात से बहुत ख़राब है। क़ै-पर-क़ै कर रहे हैं। ग्राप किसी दवा या डाक्टर का प्रबन्ध कर या करा सकेंगी ?"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं। मैं ग्रभी नौकर को भेज कर डाक्टर को बुलवाये देती हूँ। तुम उनके पास चलो।"

ग्रपनी पड़ोसिन को बिदा कर सुभद्रा ने नौकर के द्वारा डाक्टर को बुलवा भेजा। डाक्टर ने ग्राकर मरीज़ को देखा ग्रौर बतलाया कि चिन्ता की कोई बात नहीं, शराब ग्रधिक पीने का यह परिणाम है। उसने नुस्ख़ा लिख दिया। नौकर शीघ्र ही दवा लेकर वहाँ दे ग्राया।

कोई दो-ढाई घण्टे बीते होंगे कि सुभद्रा ने देखा, उसकी पड़ोसिन फिर ग्रा रही है। इस बार उसकी ग्राँखें नीचे की ग्रोर नहीं झुकी थीं। उसके सूखे नीले होंठों पर फीकी-सी एक मुस्कराहट थी। बड़ी विनम्रता से हाथ जोड़ कर वह बोली—"ग्रापने ग्राज उनकी जान बचा दी, वर्ना मैं ग्रकेली-ग्रसहाय ग्रबला भला क्या करती ? ग्रापका यह एहसान मैं कभी भी न भूलूँगी।"

"छोड़ो भी इन बातों को। अब तो बैठोगी न ? उनकी तबीयत अब कैसी है ?"

"अब तो अच्छी है।"—ज़मीन पर बिछी शीतलपाटी पर बैठते हुए उसने कहा—"उन्हें दवा से आराम पहुँचा मालूम देता है, इसीसे नींद आ गई है। अब मैं थोड़ी देर तक यहाँ बैठ सकती हूँ।"

"लेकिन बहन, तुम अपना नाम तो बताओ। मैं क्या कह कर तुम्हें सम्बोधित करूँ ?"

"इसकी कोई ख़ास ज़रूरत न हो, तो जाने ही दीजिए। आपके मुँह से 'बहन' शब्द सुन कर मेरी छाती प्रसन्नता और गर्व से फूल उठती है। कितना प्यारा लगता है यह शब्द !"—फिर कुछ रुक कर उसने कहा—"पर नहीं, आप-जैसी सतवन्ती और आदर्श गृहिणी की बहन भला मुझ-जैसी पतिता कैसे हो सकती है ? आप मुझे आज से प्रेमा कह सकती हैं।"

सुभद्रा ने देखा—आगन्तुका की आँखें भर आई हैं। उसके नीले होंठों की मुस्कराहट अदृश्य होकर जैसे अपनी नग्न कँपकँपी-भर छोड़ गई है। उसके होंठों, कपोलों, ललाट और कानों के पास चोटों के लाल-नीले निशान उसके गोरे शरीर पर दर्पण के मैल की तरह सुस्पष्ट दिखाई पड़ रहे थे। उसका प्रफुल्ल यौवन जैसे असमय ही जराजीर्ण होने की होड़ कर रहा हो। शरीर के घावों और मैले वस्त्रों के रूप में जैसे उसका विवर्ण सौन्दर्य अपनी मूक गाथा स्वतः कह रहा था। आँखों में उमड़े हुए आँसुओं का उपसंहार तो जैसे सुभद्रा के लिए दु:सह हो चला था। कुर्सी से उठ कर प्रेमा के पास बैठते हुए वह बोली—"यह तुम्हारा क्या हाल है, बहन ?"

आँचल के छोर से अपनी गीली आँखें पोंछ कर कृत्रिम मुस्कराहट से प्रेमा ने कहा—"कोई ख़ास बात तो नहीं। इधर कई दिनों से स्वास्थ्य ठीक नहीं रह रहा है।"

"लेकिन तुम्हारी देह के ये निशान भी क्या अस्वस्थता की ही वजह से हैं ?"

प्रेमा चुप रही। इसका कोई जवाब वह नहीं दे सकी।

"तुम तो बहन ऐसी सख्त निगरानी में रहती हो कि शायद जेल के क़ैदी या पिंजरे के पंछी भी न रहते होंगे।"

इस बार भी प्रेमा कुछ न बोली।

"यह जो तुम्हारे साथ रहते है, कौन है ?"

"यही तो मेरे. . . ." सहसा प्रेमा रुक गई। फिर कुछ क्लान्त-से स्वर में बोली—"मेरे पति ही है।"

"लेकिन पति इतना क्रूर कैसे हो सकता है, बहन ? यह रोज़-रोज़ की मार-पीट मुझसे तो सुनी-सही नहीं जाती। न मालूम तुम कैसे यह सब सहती होगी ?"

प्रेमा कुछ कहना चाहती थी, पर उसके मुंह से जैसे कोई शब्द ही न निकल रहा हो। नीची आँखे किये वह चुपचाप बैठी रही। सुभद्रा ने चिबुक पकड़ कर जब उसका मुँह ऊपर उठाया, तो देखा कि उसकी आँखों से बड़े-बड़े मोतियों-से आँसू ढुलक रहे है। नीले पड़े हुए उसके होंठ भय और अन्तस् के तूफ़ान के कारण काँप रहे थे। सुभद्रा उसकी इस मुख-मुद्रा को अधिक देर तक न देख सकी। उसकी आँखें बरस पड़ी और प्रेमा को अपनी छाती से लगा कर वह बोली—"मेरी भोली बच्ची, तू मुझे ही धोखा देने की कोशिश क्यों कर रही है ? सारी बातें मुझसे साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहती ? शायद मै तेरी कुछ सहायता कर सकूँ।"

"आपको भला धोखा देने की धृष्टता मै कैसे कर सकती हूँ ? सच बात तो यह है कि मुझे कुछ कहने का साहस ही नहीं होता। अपनी इस दुरवस्था का कारण मैं स्वयं और मेरी असहायावस्था है।"

"फिर भी, कुछ पता तो लगे कि आखिर बात क्या है ?"

"मैं लाहौर के एक प्रतिष्ठित घराने की लड़की हूँ। यह जो मेरे

साथ रह रहा है, मेरा पति नहीं है। इसका नाम राम....नहीं प्रकाश है। यह हमारे घर के पास ही रहता था। अपनी नासमझी और इसके प्रलोभनों से मैं इसके चक्कर में फँस गई। हम दोनों एक-दूसरे को 'प्रेम' करने लगे! इस रहस्य का भण्डाफोड़ हो जाने के डर से यह मुझे एक दिन चुपके से दिल्ली भगा लाया। यहाँ लाकर इसने मेरे साथ जो-कुछ किया, वह बयान के बाहर है।"

यह कह कर प्रेमा फफक-फफक कर रोने लगी। कुछ सँभल कर उसने फिर कहना शुरू किया—"घर से भागते समय मैं जो-कुछ ज़ेवर और रुपये-पैसे लाई थी, वे थोड़े ही दिनों में खत्म हो गये। फिर हाथ तङ्ग हो चला। प्रकाश ने इधर-उधर नौकरी की बहुत तलाश की, पर अच्छी योग्यता न होने से इसमें कोई सफलता नहीं मिली। और कोई उपाय न देख इस नर-पिशाच ने मुझे वेश्या-वृत्ति स्वीकार करने पर मजबूर किया। पहले तो मैं इसके लिए राज़ी नहीं हुई, पर जब इसने और इसके मित्रों ने लगातार कई दिनों तक मुझे बुरी तरह मारा-पीटा और मेरी अस्मत ख़राब की, तो मेरे सामने इस पाप-कर्म के लिए तैयार होने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं रहा। पिछले दो-तीन महीनों में इसने मेरी जो दुर्दशा की है, वह मैं आपको ज़बान से वर्णन कर बतला नहीं सकती। ज़रा यह देखिए—" कह कर प्रेमा ने अपना जम्पर ऊपर उठाया। उसके सीने के घावों और मार के निशानों को देख सुभद्रा ने काँप कर अपनी आँखें बन्द कर लीं। ओफ़्!

दोनों थोड़ी देर तक चुपचाप बैठी-बैठी आँसू बहाती रहीं। फिर प्रेमा ने आँचल के छोर से आँसू पोंछे और उठते हुए कहा—"अब जाती हूँ। उन्हें दवा देने का समय हो आया। मौक़ा मिला, तो फिर आऊँगी। मुझे इस नरक से निकालने की आप कोई कोशिश करें; वर्ना सड़ तो रही ही हूँ।"

"लेकिन बहन, तुमने अपने घर का पता तो बताया ही नहीं। बताओ

तो तुम्हारे माता-पिता को ख़बर ही कर दें। शायद वे ही तुम्हारा उद्धार कर सकें।"

"नही, उनका नाम-पता मैं जान-बूझ कर बताना नहीं चाहती। मेरा भाग आना क्या उनके लिए कम बदनामी का बायस हुआ होगा ? मैं या आप जानती है कि यह मेरी ग़लती और बेवक़ूफ़ी है, पर दुनिया तो उन्हीं को दोष देगी ? फिर मेरा उस घर में वापस जाना समाज के कितने कर्णधारों के लिए सह्य और सुखकर होगा ? वह तो बल्कि जले पर और नमक छिड़कना होगा।"

"अच्छी बात है। तो मैं ही कुछ करूँगी।"

एक गहरा निःश्वास छोड़ कर प्रेमा चली गई।

– ५ –

प्रेमा के हाथ से चाय का प्याला लेते हुए प्रकाश ने कहा—"जाओ, ज़रा देखो दरवाज़ा कौन खटखटा रहा है ?"

प्रेमा ने जाकर ज्योंही दरवाज़ा खोला, देवकी बाबू खड़े दिखाई दिये। दरवाज़ा आधा खुला छोड़, एक लम्बा-सा घूँघट खींच, वह पीछे हट गई। देवकी बाबू ने आँखें नीची किये हुए कहा—"प्रकाश की तबीयत अब कैसी है ? मैं अन्दर आ सकता हूँ ?"

"जी हाँ, ख़ुशी से तशरीफ़ ले आइये।" भीतर चारपाई पर बैठे-ही-बैठे प्रकाश ने कहा।

प्रेमा दूसरे कमरे में चली गई। देवकी बाबू ने भीतर पहुँच कर प्रकाश की चारपाई के पैंताने के कोने पर बैठते हुए कहा—"कहिए, अब आपकी तबीयत कैसी है ? जी कुछ हल्का हुआ ?"

"जी हाँ, अब तो काफ़ी फ़र्क़ नज़र आता है।"—बनावटी मुस्कराहट के साथ प्रकाश ने कहा।

देह के मोह से एकदम मुक्त नहीं हो सकता। जिसे तुम पवित्र स्नेह या प्रेम कहते हो, वह दैहिक धरातल पर आकर 'वासना' की ही संज्ञा बन जाता है। मैं मानती हूँ कि हाड़-मांस के प्राणी देवता नहीं होते। बिना वासना के वे शायद रह भी नहीं सकते। पर इस पर विजय पानेवाले भी इसी संसार में हैं, और वे ही सच्चे प्रेम की पवित्रता का अनुभव कर पाते हैं। मैं वह मार्ग छोड़ कर आगे बढ़ आई हूँ। लौटने का साहस या क्षमता मुझमें नहीं है, ऐसी बात नहीं; लेकिन लौटना मेरे लिए अब आवश्यक नहीं रह गया है। भले ही यह अपवाद हो, पर है यह सत्य और यही वास्तविकता भी है। विवाह की बात कह कर आख़िर तुम मुझे क्यों व्यर्थ जलाना चाहते हो? अगर विवाह ही करना होता, तो कमी किस बात की थी? तुम्हें भाई के रूप में अपने स्नेह का अर्घ्य चढ़ा कर मैंने जिस महान गौरव और गर्व का अनुभव किया था, उसे कह कर नहीं बतला सकती। बहनों का साथ मुझे बचपन से मिला है, और तभी से भाई का अभाव भी न सिर्फ़ खटका ही है, बल्कि और घनीभूत भी होता चला गया है। उसकी कसक बुरी तरह हृदय को मसोसती रहती थी, और तुम्हारे मुँह से जब पहले-पहल मैंने 'दीदी' सम्बोधन सुना, तो मैं जैसे फूली नहीं समाई। पर आज देखती हूँ कि तुम बरबस, हृदयहीन क्रूरता के साथ, मेरे उस सुख और सन्तोष को मुझसे छीन लेना चाहते हो। आख़िर क्यों? क्या तुम पुरुष लोग इतने गिर चुके हो कि नारी को 'पत्नी' या 'प्रेयसी' के सिवा और किसी रूप में देख ही नहीं सकते? फिर अपनी इस कुत्सित मनोवृत्ति पर अपनी भलमन-साहत और उच्चाशयता का पर्दा डालने के लिए कहते हो कि तुम्हें मेरी देह के प्रति कोई मोह या अनुराग नहीं हुआ है! यह धूर्त्तता तुमने कहाँ से सीखी? या सचमुच तुम दिल के इतने कमज़ोर और काले हो, और मैंने मोहवश एक अपात्र को ही अपने भ्रातृ-स्नेह का आगार समझ लिया था!

"पर सच मानना, यह सब मैं तुम्हारी ही तरह शायद आवेश में लिख गई हूँ। तुम्हारी इन सारी नई बातों के बावजूद मेरे हृदय में तुम्हारे

प्रति किसी तरह का फ़र्क़ नहीं पड़ा है। मैं समझती हूँ कि आमने-सामने होते ही हम लोग एक-दूसरे को न केवल ठीक-ठीक समझ ही लेंगे, बल्कि एक-दूसरे को क्षमा भी कर सकेंगे। आखिर हमारा स्नेह इतना छिछला तो नहीं है कि इतनी जल्दी सूख जाय। आशा है, तुम मेरी बातों का बुरा नहीं मानोगे।

"माता जी की तबीयत अब ठीक है। वे तुम्हें आशीर्वाद कहती हैं। शेष कुशल।

तुम्हारी दीदी,
—तृप्ति।"

पत्र समाप्त करते-करते सुबोध का चेहरा मुरझा गया, और वह जैसे किसी गहरी चिन्ता से विवर्ण हो उठा। दूसरी चिट्ठियों को उसने छुआ तक भी नहीं, और उठ खड़ा हुआ। थोड़ी देर तक वह कमरे में इधर-उधर टहलता रहा। फिर मृणाल को टेलीफ़ोन किया और कहा—"शाम को इधर होते हुए जाना। मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।....हाँ, हाँ भाई, वहीं, तुम्हारे साथ ही।....तैयार होने की इसमें क्या बात है? तुम्हें नाराज़ थोड़े ही कर सकता हूँ?....ज़रूर, हाँ, मैं तुम्हारा इन्तज़ार करूँगा।"

सुबोध अपनी कुर्सी पर आ बैठा। कोशिश करने पर भी आज काम में उसका जी नहीं लग रहा था। घड़ी की ओर उसने देखा और यह जान कर जैसे उसे बड़ी निराशा हुई कि अभी केवल एक ही बजा है। इस समय एक-एक पल उसके लिए जैसे युग हो रहा था।

— ३ —

रात-भर तकिये में मुँह छिपाये तृप्ति पलँग पर उल्टी पड़ी सिसकती रही। प्रातःकाल जब वह उठी, तो उसे ऐसा मालूम हो रहा था, जैसे वह महीनों की बीमार हो। कल तीसरे पहर सुबोध का जो पत्र उसे

मिला, उसकी एक-एक पंक्ति ने, एक-एक शब्द और एक-एक अक्षर ने जैसे उसके रोम-रोम में आग लगा दी थी। सुबोध कभी इस मार्ग पर जायगा, इसकी उसने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। और जले पर नमक छिड़कने के लिए सुबोध ने अपनी प्रेयसियों के जो चित्र उसे भेजे थे, उन्हें देख कर तो जैसे वह घृणा और क्रोध से एकदम जल उठी थी। 'यह उस कम्बख़्त ने क्या कर डाला? अगर मुझसे बदला ही लेना था, मुझे सबक़ ही सिखाना था; तो वह मुझे दण्ड देता, अपनी ज़िन्दगी उसने क्यों नरक में झोंक दी?'—कह कर उसने खीझ कर अपने सिर के बाल नोंच लिये और चीख़ कर रोने की अपनी अधीरता को जैसे बरबस दाँतों के बीच में पीस डाला।

कभी वह अपने-आपको दोष देती और कभी मन-ही-मन कहती—'सुबोध! कौन सुबोध? कैसा सुबोध? पाँच साल पहले जिसका मेरे जीवन में कोई भी स्थान नहीं था, वह आज मेरे जीवन का सब-कुछ कैसे बन गया? यह ज़्यादती है, ज़ुल्म है, ज़बरदस्ती है। मैं इसे सहन नहीं कर सकती। सहन नहीं करूँगी। वह नरक में गिरे, भाड़ में फुँके, जहन्नुम में जाय; मुझे उससे क्या? वह मेरा होता कौन है? क्यों मैं उसके लिए अपना और अपने आप्तजनों का जीवन नरक बनाऊँ?' इस तरह के आवेशयुक्त विचारों के प्रवाह में तृप्ति ने अपने-आपको छोड़ दिया, और कुछ दूर जाकर जैसे किसी चट्टान से टकरा कर वह रुक गई हो और तब उसे होश आया। सुबोध की भोली-भाली सूरत और उसकी भली-भली बातों को याद कर जैसे उसके विचारों की धारा दूसरी ही दिशा में प्रवाहित होने लगी।

उसका सिसकना रुक गया, और शायद रोना भी। मन-ही-मन जैसे वह कहने लगी—'होता क्यों नहीं, सुबोध मेरा सभी-कुछ तो है। भ्रातृ-स्नेह के इस सूत्र को तोड़ कर क्या मैं जी सकूँगी? उसे कुमार्ग पर डालने की सारी ज़िम्मेदारी क्या मेरी नहीं है? वह एक नासमझ,

भोला युवक था। मैंने ही तो दीदी बन कर उसके जीवन की नीरसता को सरसता में परिणत कर दिया। उसके जीवन का एक सुप्त पहलू जाग उठा। अपनी खोई हुई दुनिया जैसे उसने पा ली। नारी के स्नेह और सम्पर्क ने उसे सजग, किन्तु असंयत, बना दिया। वह आगे बढ़ा और बढ़ता ही गया। स्नेह और प्रेम के सन्धि-स्थल को वह पार कर गया और आ रुका प्रेम-नाम से वासना के सीमान्त पर। मेरे मन में भले ही कोई पाप न रहा हो, पर उसे इस तरह आगे बढ़ने देने और अनुचित प्रोत्साहन लेने देने में अनवधानता तो मुझसे हुई ही है। अपनी इस भूल की भयंकरता एवं गम्भीरता को उस समय भले ही मैंने ठीक-ठीक न आँका या समझा हो; पर आज तो वही मेरे जीवन का काल बन रही है। इससे मैं अपने-आपको एकदम सुबुक-दोष कैसे मान लूँ ? जीवन के लम्बे-लम्बे २३ वर्ष जब मैंने बिना भाई के बिता दिये, तो अब ही ऐसी क्या आफ़त आ पड़ी थी कि व्यर्थ यह जी का जंजाल मोल ले बैठी ? पर अब हो ही क्या सकता है ?'

सहसा उसके कान में किसी ने कहा—'हो क्यों नहीं सकता ? सब-कुछ तो हो सकता है !' और उसके मुर्झाये हुए चेहरे पर प्रसन्नता की एक नई चमक दौड़ गई। उसकी दृष्टि घड़ी पर गई। उसे ख़याल आया कि अभी कलकत्ते की गाड़ी में आध घंटे की देर है। वह आसानी से उसे पकड़ सकती है।

जल्दी-जल्दी उसने हाथ-मुँह धोये। बक्स में से कुछ नोट निकाल कर अपने बैग में रखे और कुछ कपड़े तौलिये में लपेट कर माँ के कमरे में गई। बोली—"अब तो तुम्हारी तबीयत ठीक है न, माँ ? मैं आज कलकत्ते जा रही हूँ। सुबोध सख़्त बीमार है। परसों लौट आऊँगी।"

तृप्ति की बात सुन कर उसकी माँ हक्का-बक्का-सी रह गई। विस्फारित नेत्रों से तृप्ति की ओर देखते हुए उसने पूछा—"कलकत्ता जा रही है ? अकेली ही ? ऐसा क्या हुआ है री सुबोध को ?"

"यह सब लौट कर बतलाऊँगी, माँ ! अभी देर हो रही है। कहीं गाड़ी छूट गई, तो बस....! बाप रे, गज़ब हो जायगा। अच्छा, हाँ, तो अब मैं जा रही हूँ। क्षमा करना....ओह...." उसकी माँ कुछ कहे, इससे पहले ही वह जल्दी-जल्दी पाँव बढ़ाती हुई कमरे से बाहर निकल गई।

कमरे से बाहर आकर तृप्ति ने साड़ी के छोर से अपनी आँखें पोंछीं, एक उड़ती हुई-सी नज़र पीछे डाली, और जल्दी से घबराई-सी आगे बढ़ गई।

— ४ —

पूछते-पूछते तृप्ति ने सुबोध का पता पा ही लिया। उसने केवल सुबोध के घर का ही पता नहीं लगाया, बल्कि उसकी उस प्रेयसी के स्थान का भी, जहाँ वह अक़सर जाया और पड़ा रहा करता था। तृप्ति जब उस वेश्या के घर पहुँची, जहाँ उसे सुबोध के होने की ख़बर मिली थी, तो उसके पाँव लड़खड़ा रहे थे, गला सूख गया था और आँखें बार-बार सजल होकर न मालूम क्यों उसे पीछे खींच रही थीं। बाहर लटके हुए पर्दे को हटा कर जब तृप्ति ने कमरे में पाँव रक्खा, तो वह शराब की बदबू से भभक रहा था और तीन-चार व्यक्तियों के बीच में बैठा सुबोध सरूर-भरी अधखुली आँखों से मुस्करा-मुस्करा कर झूम रहा था। सारंगी और तबले के साथ ही पास में गुड़िया-सी बन-ठन कर बैठी एक जादू-भरी युवती का मधुर कंठ-स्वर कमरे की नीरवता का गला घोंट रहा था। तृप्ति के कमरे में पाँव रखते ही गाना-बजाना एकदम बन्द हो गया और सबकी नज़र एकसाथ उसकी ओर उठ गई। क्रोध और घृणा से तृप्ति की देह काँप रही थी। एक क्षण वह बिना कुछ बोले जहाँ की तहाँ खड़ी रही, फिर सुबोध का हाथ पकड़ कर उसे उठाते हुए बोली—"एक मिनट के लिए ज़रा बाहर चलो; तुमसे मुझे कुछ ज़रूरी काम है।"

सुबोध हक्का-बक्का रह गया। उसका सारा नशा जैसे हिरन हो गया।

यन्त्रवत् खिंचा वह बाहर चला आया। ज़रा रुकते हुए उसने पूछा—"तुम यहाँ कैसे, तृप्ति ? ऐसा मुझसे क्या काम था ? फिर अपने यहाँ आने की सूचना तो देनी थी। इस तरह अकस्मात चली...."

"चलो, नीचे चलो।"—बीच ही में बात काट कर सुबोध का हाथ खींचते हुए तृप्ति ने ज़ीने की ओर बढ़ कर कहा—"अचानक नहीं चली आती, तो यह नज़ारा भला कैसे देखने को मिलता ?"

ज़ीने से नीचे पहुँच कर तृप्ति ने सड़क के किनारे खड़ी हुई एक टैक्सी का दरवाज़ा खोल कर सुबोध को धकेलते हुए कहा—"चलो, जल्दी बैठो।"

"पर कहाँ जाना होगा ? आखिर बात क्या है ?"—सुबोध ने चिन्ता और आश्चर्य-मिश्रित स्वर में पूछा।

"मैं कहती हूँ, इसमें बैठो।"—खीझ कर तृप्ति रोने के स्वर में चिल्ला उठी। उसके होंठ क्रोध से काँप रहे थे। आँखें डबडबाई हुई थीं। अब सुबोध को उसका विरोध करने की हिम्मत नहीं हुई। वह तृप्ति की हठधर्मी-प्रकृति को जानता था और यह भी कि अपनी अवज्ञा वह सहन नहीं कर सकती। वह चुपचाप टैक्सी की पिछली सीट पर जा बैठा। तृप्ति उसके पास ही आ बैठी और ड्राइवर से बोली—"चलो।"

टैक्सी में अँधेरा था; पर सड़क के किनारों की बत्तियों और दुकानों की रोशनी में जब-तब सुबोध कनखियों से तृप्ति के चेहरे की ओर देखता, तो उसे उसकी आँखों में चमकते हुए पानी के अतिरिक्त और कुछ भी स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था। दो-एक बार उसने दबे स्वर में पूछा भी कि 'हम कहाँ चल रहे हैं ?' पर तृप्ति ने कोई उत्तर नहीं दिया।

हावड़ा-स्टेशन के सामने जाकर टैक्सी रुकी। तृप्ति और सुबोध दोनों उतरे। तृप्ति ने अपने बैग में से पाँच रुपये का एक नोट निकाल कर टैक्सीवाले को दिया और सुबोध को साथ लिये प्लैटफ़ॉर्म की ओर बढ़ गई। प्रवेश-द्वार पर खड़े टिकट-कलेक्टर को उसने अपने बैग में से निकाल कर दो टिकट दिखाये, और दोनों अन्दर चले गये। सुबोध की जैसे कुछ

समझ में ही नहीं आ रहा था कि आखिर माज़रा क्या है और तृप्ति यह सब नाटक-सा क्या कर रही है? पर उससे कुछ पूछने का साहस जैसे वह आज अपने-आपमें नहीं पा रहा था।

सेकेंड क्लास के एक डिब्बे में दोनों जा बैठे। थोड़ी देर बाद गाड़ी चल पड़ी। अब सुबोध से नहीं रहा गया। उसने देखा कि तृप्ति उसकी ओर देखने के बजाय खिड़की से बाहर देख रही है। इस बात पर उसे कुछ आश्चर्य तथा दुःख भी हुआ और कुछ बुरा भी लगा। अपना सारा साहस बटोर कर वह पूछ ही तो बैठा—"तृप्ति, बताती क्यों नहीं कि हम लोग कहाँ चल रहे हैं?"

"घर।"—तृप्ति ने बाहर देखते हुए ही कहा।

"घर? पर किस लिए?"

"यह वहाँ चल कर मालूम हो जायगा।"

"लेकिन मैंने सामान तो कुछ लिया नहीं। आखिर तुम्हें ऐसी क्या जल्दी थी?"

"सामान की ज़रूरत ही क्या है? ज़रूरत की सब चीज़ें वहाँ मिल जायँगी।"

"और दफ़्तर में छुट्टी के लिए भी तो नहीं कहा।"

"अच्छा ही हुआ।"

"अच्छा हुआ! और नौकरी जो चली जायगी?"

"जाने दो; बिना नौकरी के भी तो लोग दुनिया में ज़िन्दा रह ही रहे हैं।"

"मैं लखपती तो नहीं, जो बिना नौकरी के काम चला सकूँ।"

"न सही, मैं तो हूँ! नौकरी से दुगुनी तनख्वाह हर महीने तुम मुझसे ले लिया करना! बस।"

"देखो, यह हँसी करने का समय नहीं है, तृप्ति। तुमने न तो मुझे सामान ही लेने दिया और न छुट्टी ही...."

"मैं हँसी कहाँ कर रही हूँ, सुबोध बाबू ?"—तृप्ति ने अपनी सजल आँखों से सुबोध की ओर देखते हुए कहा—"परन्तु तुम्हारी ज़िन्दगी का मूल्य मेरी दृष्टि में तुम्हारे सामान और नौकरी से कहीं अधिक है। जो सामान तुम्हारा कलकत्ते में छूट गया है, उससे दुगुना-चौगुना सामान तुम मुझसे घर चलते ही ले लेना। जो तनख्वाह तुम्हें यहाँ मिलती थी, उससे दुगुने-चौगुने रुपये हर महीने तुम मुझसे ले लिया करना। और तुम क्या चाहते हो ? तुम्हें कलकत्ते में रहने और नौकरी करने की ऐसी क्या ज़रूरत है ? मेरे पास यह जो रुपया है, वह क्या मेरे ज़हर खा कर मर जाने के लिए है, या कुआँ-धर्मशाला बनवाने के लिए ?"

"यह तुम क्या कह रही हो, तृप्ति ?"—सुबोध ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा।

"वही, जो अब तक चाहने पर भी कभी तुमसे नहीं कह सकी थी।"

"तो आखिर तुम क्या करने जा रही हो ?"

"वही, जो एक बहन अपने गुमराह और नासमझ भाई के लिए कर सकती है, या उसे करना चाहिए। क्या तुम अपनी दीदी को इतना अधिकार भी नहीं दोगे ?"

यह सब-कुछ नहीं। मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा। तुम मुझे इस तरह धोखे से क्यों ले आई ? ये सब बातें मुझसे पहले ही क्यों नहीं कहीं ?"—कह कर सुबोध उठ खड़ा हुआ। उसके चेहरे से परेशानी साफ़ ज़ाहिर हो रही थी।

"अच्छी बात है",—मुस्कराते हुए तृप्ति ने कहा—"तो यह सामने जो जंजीर है, उसे खींच लो। जब गाड़ी रुक जाय, तो उतर कर जहाँ जी चाहे जा सकते हो। अगर गार्ड पूछे कि गाड़ी क्यों रोकी, तो कह देना कि यह औरत मुझे भगाये लिये जा रही थी ! समझे ?"

"चुप, चुप, अरे यह क्या कह रही हो ?"—तृप्ति के मुँह पर हाथ रखते हुए सुबोध ने कहा और अपनी जगह पूर्ववत् बैठते हुए बोला—

"यह जो सामने की बर्थ पर यात्री लेटा है, वह कहीं सुनेगा, तो अपने मन में क्या कहेगा ?"

"अच्छी बात है, तो फिर चुपचाप यहाँ बैठो और जो मैं कहती हूँ, उसे सुनो। माता जी की तबीयत इन दिनों ठीक नहीं रह रही है। उनकी बीमारी और बहनों के विवाह की चिन्ता से मैं अकेली दिन-रात घुला करती हूँ। इसलिए मैं तुम्हारी सहायता की भिक्षा माँगती हूँ। अब तुम इधर-उधर न भटक कर हमारे यहाँ ही चल कर रहो। घर के मालिक अब एक तरह से तुम्हीं हो। मैं तुम्हारी आज्ञा और सलाह से काम करूँगी। पहले मुझे तुम्हारा और अपनी दोनों बहनों का विवाह करना है; बाद में तुम चाहो तो मुझे घर के काम-काज से छुट्टी भी दे सकते हो। मेरा विचार ग़रीब लड़कियों और विधवाओं की पढ़ाई के लिए एक विद्यालय खोलने का है। थोड़ा रुपया मैं उसके लिए तुमसे ज़रूर लूँगी। बस, और मैं कुछ नहीं चाहती।"

"पर मेरे विवाह की बात कह कर तुम मुझे लज्जित क्यों कर रही हो, तृप्ति ?"

"लज्जित नहीं कर रही; तुम्हारी व्याधि का एकमात्र इलाज यही है। उसके बिना तुम्हारा दिमाग़ ठिकाने नहीं आ सकता।"

"और अगर मैं तुम्हारी यह बात न मानूँ, तो ?"

"तो मैं देख लूँगी कि मुझे क्या करना चाहिए।"

सुबोध का सारा क्रोध और अधीरता जैसे एकदम तिरोहित हो गए। बड़े आदर एवं श्रद्धा से गद्‌गद् स्वर में उसने कहा—"मेरी भली दीदी !" और अपने दोनों हाथ उसने तृप्ति के पाँवों की ओर बढ़ा दिये।

तृप्ति की आँखें बरस पड़ीं। सकुचा कर अपने पाँव पीछे खींचते हुए उसने गद्‌गद् कंठ से कहा—"अरे, यह तुम क्या कर रहे हो ?"

पर सुबोध अपने-आपको रोक नहीं सका। उसने ज़बरदस्ती तृप्ति के पाँव पकड़ ही लिये और अपना सिर उन पर रख दिया। दो गरम-गरम आँसू उसकी आँखों से निकल कर तृप्ति के पाँवों पर जा गिरे !

साँझ का सपना

सलीम के हिन्दुस्तान लौटने के दिन जब मैं उससे मिलने पहुँचा, तो वह अपना सामान बाँधने-बूँधने में लगा हुआ था। मुझे देखते ही उसने दौड़ कर हाथ मिलाया और मुझे अपनी भुजाओं में बाँधते हुए बोला—'भई शर्मा, अब न-मालूम तुमसे कब मुलाक़ात होगी? तुम कब हिन्दुस्तान आ रहे हो? तुम्हारे साथ जो चन्द साल हँसी-खुशी के लन्दन में बीते हैं, क्या उनकी मीठी याद कभी भूलेगी? बोलो, अपने घर क्या भेजते हो?'

'कोई खास चीज़ तो नहीं।'—मैंने जेब से एक लिफ़ाफ़ा निकालते हुए कहा—'यह एक खत है। इसे पिता जी को दे देना और ज़बानी भी कह देना कि मेरे बारे में किसी तरह की फ़िक्र न करें। मैं यहाँ खूब मज़े में हूँ।'

'बहुत खूब। मैं उन्हें अच्छी तरह से सब-कुछ समझा दूँगा।'

इसी समय मेरी नज़र सलीम की नौकरानी (मेड-सरवेंट) मिस डोरोथी पर पड़ी, जो दीवार की ओर मुँह किये एक सूटकेस में सलीम के कपड़े सँवार-सँभाल कर रख रही थी। हम दोनों उस ओर बढ़े और मैंने डोरोथी को अभिवादन किया। पर सदा की भाँति आज उसने हँस कर मेरे अभिवादन का उत्तर देना तो दूर रहा, मेरी ओर देखा तक भी नहीं। मुझे ऐसा भान हुआ, मानो उसके होंठ हिले ज़रूर, पर उनसे निकली आवाज़ मेरे कानों तक स्पष्ट रूप से नहीं पहुँच पाई। सलीम ने मेरे कान के पास मुँह लाकर धीरे से कहा—'आज उसे मत छेड़ो, शर्मा। उसकी तबीयत बिगड़ रही है। सुबह से मुझसे न-जाने क्या-क्या कह कर झगड़ रही है। बड़ी ज़िद्दी और बद्दिमाग़ लड़की है।'

सलीम के यहाँ आने-जाने से डोरोथी को थोड़ा-सा मैं भी जानने लगा था। यही नहीं, मैं उसके मधुर स्वभाव और शिष्ट एवं स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार का एक हद तक क़ायल भी हो चला था। सलीम की उपस्थिति और अनुपस्थिति में मेरी उससे घंटों बातें हुआ करती थीं। अतः हम एक-दूसरे से नाराज़ हो सकते हैं या एक-दूसरे को ग़लत समझ सकते हैं, इसकी आशङ्का दोनों में से किसी को भी नहीं थी। सलीम की बात अनसुनी कर मैं डोरोथी के पास चला गया और उसके कन्धे के निकट मुँह ले जाकर बोला—'मिस डोरोथी, आज आप मुझसे नाराज़ हैं क्या ? आपने मेरे अभिवादन का भी कोई उत्तर नहीं दिया ?'

'ओह, मिस्टर शर्मा, मुझे अफ़सोस है कि आज अपने आपे में न होने के कारण मुझे आपके प्रति इतना रूखा बनना पड़ा। कृपया इसके लिए मुझे क्षमा कर दें। मैंने इरादतन ऐसा कदापि नहीं किया। आपको तो मालूम ही है कि आज सलीम मुझे छोड़ कर. . . .।'—और वाक्य पूरा होने से पहले ही वह दोनों हाथों से अपना मुँह ढँक कर सिसकने लगी। मेरा हृदय भर आया और समझ में नहीं आया कि उसे क्या कह कर ढाँढ़स बँधाऊँ। डोरोथी की स्थिति देख कर मेरी आँखें भी सजल हो आई थीं।

इसी समय बाहर की घंटी बज उठी। दरवाज़े की ओर बढ़ते हुए सलीम ने कहा—'टैक्सी आ गई मालूम होता है।'—और दूसरे ही क्षण तेज़ी से क़दम बढ़ाते हुए वापस कमरे में आया और बोला—'डोरोथी, टैक्सी आ गई, चलो सामान रखें। (कलाई पर बँधी घड़ी देखते हुए) गाड़ी का समय भी हो रहा है।'

डोरोथी ने रूमाल से अपनी आँखें पोंछीं और जल्दी-जल्दी बाक़ी कपड़े सूटकेस में रख कर उसे बन्द किया। सूटकेस टैक्सी के पीछे बाँध दिया गया और हम तीनों विक्टोरिया-स्टेशन की ओर चल पड़े। जब हम लोग प्लेटफ़ॉर्म पर पहुँचे, तो गाड़ी छूटने में कोई ६-७ मिनट बाक़ी थे।

डिब्बे के दरवाज़े के पास खड़े हम तीनों बातचीत कर रहे थे।

डोरोथी की आँखें रो-रो कर लाल हो चली थीं और उसका रूमाल आँसुओं से तर हो रहा था। वह बहुत कम बोल पा रही थी। जब-तब उसकी आँखें सलीम के चेहरे पर जातीं और सहसा सजल हो उठतीं। अधिकांश बातचीत मैं और सलीम ही कर रहे थे। मुझे मर्म-भरी दृष्टि से डोरोथी की ओर देखते हुए देख कर सलीम ने धीरे से कहा—'एक बात कहूँ शर्मा। बोलो, मानोगे ?'

'वह क्या ?'—मैंने उत्सुकता से पूछा।

'यह लड़की अच्छी है—सूरत-शक्ल की भी और स्वभाव की भी। मैं तो जा ही रहा हूँ, इसे तुम ही क्यों नहीं रख लेते ?'

मेरा चेहरा सहसा गम्भीर हो गया। ज़रा सहमी हुई आवाज़ में मैंने कहा—'तुमने मुझे क्या समझ रक्खा है, सलीम ?'

सलीम एकदम निष्प्रभ-सा हो गया। बनावटी और फीकी हँसी हँसते हुए बोला—'ख़ैर जाने दो, मैं तो तुम्हारी ही भलाई के लिए कह रहा था। तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। पर यार, इतने दिन लन्दन में रह कर तुमने तो जैसे भाड़ ही झोंका।'

गाड़ी ने पहली सीटी दी। सलीम ने मुझसे और डोरोथी से हाथ मिलाया, उसे चूमा और डिब्बे में चढ़ गया। डोरोथी की फिर सिसकी बँध गई। सिसकते-सिसकते ही उसने कहा—'देखो सलीम, अपना वादा न भूल जाना। हर महीने में तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा करूँगी। ऐसा न हो कि वहाँ जाते ही मुझे भूल जाओ। जब भी तुम सूचना दोगे, मैं यहाँ से रवाना हो जाऊँगी।'

'ज़रूर-ज़रूर !'—सलीम ने बड़े नाटकीय ढङ्ग से हँसते हुए कहा—'तुम्हें भूलना क्या मेरे लिए अब सम्भव है ? ऐसी बच्चों की-सी बातें तुम क्यों करती हो, डोरोथी ? तुम मेरे जीवन का सबसे मीठा सपना हो। तुम्हारे बिना क्या मैं ज़िन्दा रह सकता हूँ ?'

दूसरी सीटी हुई और गाड़ी चल पड़ी। काँपते हुए होंठों से डोरोथी

ने सलीम से आख़री नमस्कार किया और जब तक खिड़की में से सलीम का चेहरा और हिलता हुआ हाथ नज़र आता रहा, वह बराबर अपना रूमाल हिलाती रही। उस समय उसके सजल नेत्रों में उमड़ा आह्लाद, उसके काँपते हुए होंठों से व्यक्त होनेवाला विषाद और लता-सी काँपती हुई उसकी देह से प्रकट होनेवाला आशङ्काओं और दुश्चिन्ताओं का प्रमाद जैसे उसकी सारी मनोव्यथा को व्यक्त कर रहे थे। मैंने एक नज़र-भर उसे देखा और जैसे उस पर से अपनी आंखें हटा नहीं सका।

गाड़ी काफ़ी दूर चली गई थी। उसके पीछे की लाल बत्ती की धुँधली रोशनी के अलावा अब कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था। फिर भी डोरोथी अपना हाथ उठाये अभी तक रूमाल हिला रही थी। गाड़ी पर आये लोग लौटते हुए अर्द्धविक्षिप्तावस्था में खड़ी डोरोथी को आँखें फाड़-फाड़ कर देखते और कुछ आँखों ही आँखों में अपने साथियों से व्यंग्यात्मक इशारा करते आगे बढ़ जाते। कुछ वृद्धा स्त्रियाँ उसे देख कर जैसे दयार्द्र हो, अपरिचय के कारण केवल अपनी आँखों से ही सहानुभूति प्रकट कर आगे बढ़ जातीं और कुछ युवतियाँ उसके पागलपन पर हँस कर, रूमाल मुंह के आगे कर, जाते-जाते मुझे भी अपनी व्यंग्यात्मक चितवन से घायल कर जातीं। कुछ क्षण मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा डोरोथी के पास ही खड़ा रहा, पर जब सुदूर दक्षिण-पूर्व में दिखाई पड़नेवाली गाड़ी की वह लाल रोशनी भी अदृष्ट हो गई, तो मैंने अपना सारा साहस बटोर कर कहा—'डोरोथी, अब हमें चलना चाहिए। काफ़ी समय हो गया है।'

'हाँ'—कह कर उसने एक झटके के साथ अपना हाथ नीचे किया और रूमाल से आँखें पोंछ कर तेज़ी से क़दम बढ़ाती चल पड़ी। मैं भी उसके साथ हो लिया।

— २ —

स्टेशन से बाहर आने पर मैंने एक टैक्सीवाले को पास आने का

इशारा किया। सीढ़ियों के पास आकर उसने ज्योंही टैक्सी रोकी, डोरोथी ने भीगी आँखों से मेरी ओर देख कर धीमी आवाज़ में कहा—'आप बहुत थके हुए हैं क्या, मि० शर्मा ?'

'नहीं तो, आज तो मैं कहीं भी नही गया।'—मैंने कहा।

'तो चलिए, घूमते हुए पैदल ही क्यों न चलें ? जब थक जायँगे, तो हम लोग बस या टैक्सी ले लेंगे।'

'यह तो और भी ख़ुशी की बात है। मैं तो ख़ुद सोच रहा था कि आज आप बहुत उदास हैं, अतः आपको जल्दी ही घर न जाने दूँ और हम लोग साथ ही कहीं शाम का खाना खायँ।'

'इससे बढ़ कर ख़ुशी की बात मेरे लिए क्या हो सकती है, मि० शर्मा ? आपके निमन्त्रण के लिए अनेक धन्यवाद।'

मैंने देखा कि डोरोथी के चेहरे पर छाई हुई उदासी कुछ फीकी पड़ी तथा फिर वही चिरपरिचित मुस्कराहट उसके होंठों और गालों को एक क्षण के लिए चमका गई।

टैक्सीवाले को विदा कर हम दोनों टेम्ज़ के पुल की ओर चल पड़े। डोरोथी अवाक् चली जा रही थी, मानो उसके दिमाग़ में सलीम के विचारों के सिवा और किसी बात के लिए इस समय कोई स्थान ही न था। और मैं ? यद्यपि सामने आनेवाली चीज़ों और व्यक्तियों को मैं एक नज़र-भर देख लेता था, पर मेरा ध्यान वास्तव में केन्द्रित था डोरोथी पर ही। जब-तब मेरी आँखें, उसकी नज़र बचा कर, उसके चेहरे के भावों को पढ़ने के लिए उसी की ओर दौड़ पड़ती थीं। हवा में लहराती हुई उसकी मुक्त छँटी हुई केश-राशि और कबूतर की-सी सुन्दर गर्दन मानो नेत्रमय होकर मेरी आँखों से पता पूछने लगतीं और मैं कुछ सिहर कर फिर सामने देखने लगता। यन्त्रवत् मेरे पाँव उठ ज़रूर रहे थे, पर मुझे नहीं मालूम था कि मैं किधर जा रहा था। इतना ज्ञान मुझे ज़रूर था कि मैं डोरोथी के पास ही चल रहा हूँ और वह जिधर मुड़ती है, मेरे पाँव भी अनायास

उधर ही मुड़ जाते हैं। वह अपने विचारों में खोई चली जा रही थी और मैं उसमें—उसके सम्बन्ध में—अपने मस्तिष्क में उठनेवाली चिन्ताओं और आशङ्काओं में।

जब हम लोग टेम्ज़ के पुल पर से गुज़र रहे थे, तो अचानक डोरोथी रुक गई और सामने, किनारे की रोशनी में, झिलमिल-झिलमिल करती हुई लहरों को एकटक देखने लगी। मैंने एक बार उसकी आँखों की ओर देखा और फिर जिधर वह देख रही थी, उधर ही देखने लगा। मुझसे बिना कुछ कहे वह लहरों को ऐसे देख रही थी मानो मुझसे उसका कोई वास्ता ही न हो और वह जैसे अकेली ही हो। मैं भी बिना कुछ बोले चुपचाप उसके पास खड़ा रहा। कुछ क्षण बाद उसने मेरे कन्धे पर हाथ रक्खा और मुक्त हास्य के साथ मेरी ओर देख कर गद्गद् स्वर में कहा—'क्या ये सुन्दर नहीं हैं, मि० शर्मा ? क्या यह अनूठा सौन्दर्य आपको लुब्ध नहीं करता, मेरे प्यारे दोस्त ?'

'निश्चय ही, यह तो अद्भुत सौन्दर्य है ! पाषाण को भी शायद यह अपने जादू से मन्त्र-मुग्ध कर सकता है।'

'क्यों नहीं, सचमुच यह असाधारण है'—कह कर डोरोथी ठहाका मार कर हँसी और आगे बढ़ते हुए बोली—'चलिए, अब यहाँ ज्यादा नहीं रुकेंगे। हमें काफ़ी देर हो चुकी है।'

'हाँ, यही मैं भी सोच रहा हूँ।'—कह कर मैं भी उसीके साथ आगे बढ़ गया। डोरोथी फिर चुप न हो जाय, इस ख़याल से मैंने बातचीत का सिलसिला जारी रखते हुए कहा—'मिस डोरोथी, लेकिन लहरों के इस सौन्दर्य ने आज ही आपको इतना लुभाया है या पहले भी कभी लुभाया था ? इधर से तो हम लोग पहले भी कई बार....'

'ओह !'—मेरा वाक्य पूरा होने से पहले ही डोरोथी ने कहा—'गोया आप मुझसे जिरह करना चाहते हैं ?'

'नहीं-नहीं, मिस डोरोथी, मुझे इतना ग़लत न समझिए। मेरे

कहने का मतलब यह था कि आपके विचारों ने आज लहरों के इस सामान्य-सौन्दर्य को भी एक असाधारणता दे दी है।'

'हो सकता है'—अन्यमनस्क भाव से डोरोथी ने कहा।

कुछ क़दम आगे बढ़ने पर मैंने कहा—'ऐसा मालूम हो रहा है मानो आज आप कोई स्वप्न-सा देख रही हैं।'

'स्वप्न? कैसा स्वप्न?'

'यह मुझसे बेहतर आप जानती हैं।'

'हाँ, आप सच कहते हैं, मि० शर्मा।'—पुल के किनारे की दीवार का सहारा लेकर रुकते हुए उसने कहा—'निश्चय ही मैं एक सपना देख रही थी। यह दुनिया, यह ज़िन्दगी, यह जवानी और हमारी आशा-अभिलाषाएँ सब कुछ सपना ही तो हैं। पर क्या सपने कभी सच होते हैं, मि० शर्मा? आपका इस बारे में क्या ख़याल है?'

'मैं इस बारे में कोई उल्लेखनीय राय नहीं रखता, मिस डोरोथी। पर जहाँ तक मैंने पढ़ा और सुना है, सपने गहरे भय या प्रबल आकांक्षाओं का ही काल्पनिक प्रतिरूप हैं। सच शायद वे नहीं होते। अगर कोई हो जाय, तो उसे अकस्मात् और अपवाद ही समझिए।'

'हूँ!'—ज़रा खिन्न होकर डोरोथी ने कहा—'गोया आपकी राय में सपने भी एक तरह से मृगमरीचिका ही होते हैं?'

'लगभग कुछ ऐसा ही ख़याल है मेरा तो।'

इस बार डोरोथी कुछ नहीं बोली। हम दोनों फिर चुपचाप चलने लगे। एक होटल के सामने से जब हम लोग गुज़र रहे थे, तो सहसा डोरोथी रुक गई। भीतर से वाद्य और सङ्गीत का मधुर स्वर उपस्थित व्यक्तियों के संलाप में से छन-छन कर आ रहा था। ज्योंही मैंने प्रश्न-भरी दृष्टि से डोरोथी की ओर देखा, उसने पूछा—'हम लोग कहाँ खाना खायँगे, मि० शर्मा?'

'यह होटल कैसा रहेगा?'

'मुझे तो कोई अपत्ति नहीं है।'—डोरोथी ने कहा।

उसका हाथ अपने हाथ में लेकर होटल के प्रवेश-द्वार की ओर बढ़ते हुए मैंने कहा—'तब चलिए, यहीं चलते हैं।'

खाना खाते समय हम लोगों ने विशेष बातचीत नहीं की। डोरोथी की उदास मुख-मुद्रा देख कर मुझे कुछ विशेष खुशी नहीं हो रही थी। उसे जैसे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। उसके हाथ किसी पुराने बीमार की तरह लापरवाही और निर्जीवता से उठ और गिर रहे थे। खाना खत्म होने पर डोरोथी ने एक सिगरेट सुलगाई और किसी थके हुए यात्री की तरह धूम्रपान करते हुए अलस नेत्रों से इधर-उधर देखने लगी।

हमारी मेज़ के पास ही सामने सुरीले और धीमे स्वर में बैंड बज रहा था और कई अधेड़ तथा नई उम्र के जोड़े नाच रहे थे। सहसा अध-जला सिगरेट बुझा कर ऐशट्रे में डालते हुए डोरोथी ने कहा—'चलिए, थोड़ा हम भी नाच लें, मि० शर्मा।'

मैं अनायास खड़ा हो गया और हँस कर बोला—'आप कितनी अच्छी हैं, मिस डोरोथी? आपके साथ कौन नहीं नाचना चाहेगा?'

डोरोथी मुस्कराई और बोली—'धन्यवाद।'

देखते-ही-देखते हम दोनों भी सौन्दर्य और यौवन के उस मस्ती-भरे सागर में तैरने-उतराने लगे। ख़ुमारी-भरी आँखों से मुस्कराते हुए डोरोथी ने धीरे से कहा—'तो सपनों की सचाई में आपका विश्वास क़तई नहीं है, मि० शर्मा?'

ज़रा अपनी गरदन हिला कर धीरे से मैंने कहा—'हाँ; सपनों से अधिक मैं सत्य का क़ायल हूँ—वास्तविकता का, जिसमें भ्रम की कोई गुञ्जाइश ही नहीं।'

मेरी बात जैसे अनसुनी करते हुए डोरोथी ने कहा—'मि० शर्मा, ऐसी ही एक सुनहरी सन्ध्या को पहले-पहल मैं सलीम के साथ नाची थी। उसकी भुजाओं ने जैसे सदा के लिए मुझे उसका बन्दी बना लिया था।

तभी मैंने अपने जीवन का—अपने भविष्य का—एक मधुर मादक स्वप्न देखा था। आज भी वह स्वप्न ही है, पर अब उसके सत्य होने में देर ही क्या है ?'—यह कह कर वह मदिर अलस आँखों से हँस पड़ी और अधिक आवेश में आकर नाचने लगी।

कुछ देर बाद नृत्य समाप्त हुआ और हम लोग शीघ्र ही फिर एक-दूसरे से मिलने का वादा कर अपने-अपने डेरों की ओर चल पड़े।

— ३ —

एक, दो, तीन और यह चौथा महीना भी बीत रहा था, पर डोरोथी से फिर कभी भेंट नहीं हुई। न मुझे उसके निवास-स्थान का ही पता था और न ढूँढ़ कर उससे मिलने की उत्सुकता ही मुझ में थी। उसके प्रति थोड़ी-सी सहानुभूति और आकर्षण मुझमें ज़रूर पैदा हो गये थे और कभी-कभी उसका ख़याल भी मुझे आता था। पर स्वयं चल कर उसके पास जाने की न-जाने क्यों मेरी इच्छा नहीं होती थी। यह सोच कर कि शायद अब मुझसे मिलने की उसे कोई ज़रूरत नहीं मालूम हो रही होगी, मैं भी उसे भूलने की कोशिश करने लगा।

एक दिन जब मैं कपड़े पहन कर बाहर जाने ही वाला था कि अचानक एक टेलीफ़ोन आया—'मि० शर्मा, मैं डोरोथी हूँ। मुझे सख़्त अफसोस है कि मैं आपसे उस दिन के बाद वादा करके भी फिर न मिल सकी। पर मेरे ऐसा करने के कई प्रबल कारण थे। वे सब मैं आपसे मिलने पर ही कहूँगी। इस समय मैंने इसलिए आपको कष्ट दिया है कि मुझे एक बहुत ज़रूरी बात करने के लिए आपसे आज ही मिलना है। बतलाइए, आप कब और कहाँ मिलेंगे ?'

'आज शाम को मैं घर पर ही रहूँगा, आप सात-साढ़े सात बजे तक आइए।'

'अच्छा, तो मैं साढ़े सात बजे आ रही हूँ।'

मैं बाहर चला गया और अपना काम ख़त्म कर सात ही बजे डेरे पर

लौट आया। ज्योंही मैंने अपनी बैठक में पैर रक्खा, देखा, सामने एक कुर्सी पर डोरोथी बैठी है। उसका शरीर दुर्बल और चेहरा पीला पड़ गया था। उसकी भूरी-नीली आँखों का तो जैसे रूप-रङ्ग ही बदल गया था। मुझे देख कर सहसा उसकी आँखें भर आईं। दूसरे ही क्षण उसने निगाह नीची कर ली और कहना शुरू किया—'मैं आपसे क्षमा चाहती हूँ मिस्टर शर्मा कि वादा करके भी मैं आपसे मिल न सकी। बात यह थी कि. . . .कि मैं बाहर चली गई थी और लौटने के बाद से मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रह रहा था।'

उसके पास ही दूसरी कुर्सी पर बैठते हुए मैंने कहा—'कोई बात नहीं, इसके लिए आप व्यर्थ रंजीदा होती हैं। मैं भी तो आपसे नहीं मिला, यद्यपि मुझे कई बार इस बात का दुःख हुआ कि मैंने उस दिन आपसे आपके घर का पता क्यों नहीं पूछ लिया। ख़ैर, लेकिन यह तो बतलाइए कि आपका स्वास्थ्य इतना गिर कैसे गया ? क्या शिकायत है आपको ?'

'शिकायत तो कोई ख़ास नहीं',—उसने अपने बेग को खोलते-बन्द करते हुए, बिना आँखें ऊपर किये ही, कहा—'आपसे कुछ सलाह लेने आई हूँ। इस समय मैं बड़े धर्म-सङ्कट में पड़ गई हूँ।'

'धर्म-सङ्कट में ? वह क्या ?'

'पहले कृपया मुझे यह बतलाइए कि सलीम का कोई पत्र आया है आपके पास ?'

'मेरे पास तो कोई नहीं आया, न उसने पत्र लिखने का मुझसे वादा ही किया था। पर अपनी पहुँच की ख़बर तो उसे देनी ही चाहिए थी।'

'आपके पास उसके घर का पता है ?'

'नहीं, लेकिन शायद वह लाहौर के. . . .

'ख़ाक़ लाहौर के।'—डोरोथी ने अचानक आवेशपूर्वक मेरी बात काटते हुए कहा और अपने बेग में से विभिन्न डाकख़ानों की मोहरें लगे हुए कई लिफ़ाफ़े निकाल कर मेरे आगे करते हुए बोली—'देखिए, उसके

दिये हुए पते पर भेजे गये सारे पत्र पानेवाले का पता न लगने से लौट आये हैं ! अब आप ही बतलाइए, मैं क्या करूँ ?'

मैंने उसके हाथ से लिफ़ाफ़ों को लेते हुए एक सरसरी निगाह से उन्हें देखा और कुछ हतप्रभ होकर कहा—'लेकिन यह बात कुछ समझ में नहीं आती। शायद वह लाहौर में न हो, कहीं दूसरी जगह चला गया हो। पर उसे आपको ऐसा करने की सूचना तो देनी चाहिए थी।'

'जान-बूझ कर धोखा देनेवाले कभी सूचना दिया करते हैं, मि० शर्मा ?'—डोरोथी ने कहा और मेरे हाथ से लिफ़ाफ़े लेकर वापस अपने बेग में रख लिये। रूमाल से अपनी आँखें पोंछ कर उसने कहा—'तो आप भी सलीम का असली पता-ठिकाना मुझे नहीं दे सकते ?'

'नहीं'—मैंने दबी हुई आवाज़ में कहा और फिर मामले को रफ़ा-दफ़ा करने की ग़रज़ से बोला—'लेकिन आप उसे लेकर व्यर्थ क्यों परेशान होती हैं ? अब उसे जहन्नुम में जाने दीजिए।'

'जाने कैसे दूँ, मि० शर्मा ?'—डोरोथी ने फिर ज़रा आवेश में आकर कहा—'आप मेरी स्थिति में होते, तो....। आपको नहीं मालूम कि सलीम से प्रेम करने के कारण मुझे अपने परिवार और समाज में कितना लांछित तथा उपेक्षित होना पड़ा है ? आज मैं गर्भिणी हूँ और अकेली ....असहाय। सलीम ऐसा करेगा, इसकी मैंने कभी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी।'

'मिस डोरोथी'—सहसा चौंक कर मैंने कहा; पर इससे आगे मेरे मुँह से कुछ न निकला। डोरोथी की सजल आँखें प्रश्न-भरी दृष्टि से मेरी ओर उठीं और एक क्षण बाद फिर झुक गईं।

डोरोथी की बात सुन कर मेरा माथा गरम हो चला था और समझ में नहीं आ रहा था कि उससे क्या कहूँ ? यह सोच कर कि सलीम की करतूत से लन्दनवाले समस्त भारतीय विद्यार्थी-समाज के प्रति और समूचे

भारत के प्रति भी कैसी भ्रान्त धारणा बना लेंगे; मैं लज्जा और क्षोभ से गड़ा जा रहा था।

'तो मि० शर्मा।'—डोरोथी ने मौन भङ्ग करते हुए कहा—'इस स्थिति में आप मुझे क्या करने की सलाह देते हैं?'

'मैं? मैं तो समझता हूँ....आप जैसा ठीक समझें, वही करें।'

'सो तो मैं भी जानती हूँ; लेकिन कुछ निश्चय न कर पाने के कारण ही मैं आपकी सलाह लेने आई हूँ।'

कुछ क्षण मैं चुप रहा। मैं भी स्थिर नहीं कर पा रहा था कि डोरोथी को क्या सुझाऊँ। पर उसकी प्रश्न-भरी दृष्टि को अपने चेहरे पर लगी देख कर मैं अधिक देर चुप नहीं रह सका। डरते-डरते बोला—'लेकिन क्या आप मेरी सलाह मानियेगा? आपके भविष्य को ध्यान में रखते हुए मैं तो यही ठीक समझता हूँ कि....लेकिन शायद मैं भूल रहा हूँ, यह भारत थोड़े ही है और न आप इतनी कायर और असहाय ही हैं कि...।

'आपका मतलब गर्भ-पात कराने से है न?'—डोरोथी ने ज़रा सहमी हुई आवाज़ में कहा—'नहीं, वह अमानुषिक है। ऐसा मैं हर्गिज़ नहीं करूँगी। अपनी और सलीम की भूल का दण्ड मैं एक निर्दोष बच्चे को नहीं दूँगी। सलीम न सही, उसके प्रेम की एक यादगार, एक सौग़ात, तो मेरे पास रहेगी। फिर एक ग़लती को सुधारने के लिए दूसरी ग़लती करना क्या बुद्धिमत्ता है?'

मैं अवाक् डोरोथी के चेहरे पर आँखें स्थिर किये देख रहा था। उसके शब्दों का मुझ पर जो प्रभाव हो रहा था, उसे लिख कर व्यक्त नहीं किया जा सकता। डोरोथी के प्रति अब तक की मेरी धारणा उसकी आज की बातें सुन कर सहसा बदल गई थी और उसके प्रति मेरी सहानुभूति ने बहुत कुछ श्रद्धा का रूप भी धारण कर लिया था। अपने-आपको सँभालते हुए मैंने कहा—'मिस डोरोथी, क्षमा कीजिएगा, मैं ग़लती पर था। आज मैंने आपको भली भाँति समझा है। आपका ख़याल दुरुस्त

है। जब तक मैं यहाँ हूँ, आप मेरी तुच्छ सेवा-सहायता पर निर्भर कर सकती हैं। और अगर मैं लन्दन में ही स्थायी रूप से रहने लगा, जैसा कि मेरा विचार है, तब तो आपको विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।'

'आपके इस आश्वासन के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद, मि० शर्मा!'—कह कर डोरोथी उठ खड़ी हुई और मुझसे हाथ मिला कर बिदा होते हुए बोली—'आज आपका काफ़ी समय लिया, क्षमा कीजिएगा। पर मुझे सन्तोष है कि आपसे बातें करके मेरे दिमाग़ का बोझ बहुत कुछ हल्का हो गया।'

'तब फिर अब हम लोग कब मिलेंगे?'—मैंने पूछा।

'मैं आपको फ़ोन कर लूँगी'—कहते हुए डोरोथी कमरे से बाहर चली गई।

– ४ –

उस दिन जब मैं सरकारी ज़च्चाख़ाने में डोरोथी की हालत दरियाफ़्त करने गया, तो मालूम हुआ कि पिछली रात को उसने एक लड़के को जन्म दिया है। दौड़ कर मैं उसके कमरे में पहुँचा। पर उस समय वह सोई हुई थी। पास ही खड़ी एक नर्स ने दूध से सफ़ेद वस्त्रों में लिपटे एक बच्चे को मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—'यह है आपका लड़का, मि० शर्मा! बधाई।'

'धन्यवाद'—कह कर मैंने बच्चे को वस्त्रों सहित दोनों हाथों में ले लिया और उसकी बड़ी-बड़ी आँखों तथा साँचे में ढले हुए-से नक़्श को नज़र भरकर देखने लगा। उसे देख कर न-मालूम मेरे हृदय के किस अज्ञात कोने में छिपी हुई अपार ममता उमड़ पड़ी और मन-ही-मन मैं कहने लगा—'काश, वह विश्वासघाती और कृतघ्न सलीम इस चाँद के टुकड़े को देख पाता!'

कुछ क्षण हसरत-भरी नज़र से बच्चे को देखते रहने के बाद मैंने

उसे नर्स को लौटा दिया और डोरोथी को जगाना उचित न समझ कर उससे बिना बात किये ही घर लौट आया। रास्ते-भर मेरी आँखों के आगे उस नवजात शिशु की लुभावनी और भोली शक्ल नाचती रही। कभी डोरोथी की सजल आँखों का ख़याल मुझे आता और बच्चे के भविष्य के सम्बन्ध में मैं सशङ्क-सा हो उठता।

डोरोथी के ज़च्चाख़ाना छोड़ने के कुछ दिन बाद ही उसने बच्चे को पालन-पोषण के लिए एक शिशु-रक्षा-केन्द्र को दे दिया। डोरोथी ऐसा करने को राज़ी नहीं हो रही थी, पर स्वयं वह बच्चे की देख-रेख और अपना जीविकोपार्जन साथ-साथ नहीं कर सकती थी। मेरी आर्थिक स्थिति भी ऐसी नहीं थी कि उसकी कुछ विशेष सहायता कर सकता। फिर बिना पिता के पुत्र को लेकर किसी कुमारी के लिए समाज में रहना कितना लाञ्छना एवं भर्त्सनापूर्ण है, इसका अनुभव भी इन कुछ दिनों में उसे हो गया था। इन्हीं सब कारणों से मजबूर होकर बच्चे को शिशु-रक्षा-केन्द्र को सौंप देने के लिए मैंने उसे राज़ी कर लिया। पर ऐसा करते हुए उसके हृदय को जो मार्मिक आघात पहुँचा, उसकी कल्पना कोई कुंठित मातृ-हृदय ही कर सकता है। जब मैं उसकी गोद से बच्चे को लेकर शिशु-रक्षा-केन्द्र की ओर चला, तो वह पागलों की तरह चीख़ने लगी। बड़ी कठिनाई से उसे चुप किया। पर फिर उसका जी ऐसा उचटा कि लन्दन में रहना उसके लिए असम्भव-सा हो गया और स्वास्थ्य-सुधार तथा आब-हवा बदलने के ख़याल से वह कुछ दिनों के लिए ब्राइटन चली गई।

वहाँ से सप्ताह में कम से कम दो बार उसके पत्र ज़रूर आते और बच्चे की कुशल-क्षेम जानने के लिए उसकी सारी उत्सुकता जैसे उनमें उमड़ी पड़ती थी। एक पत्र में उसने लिखा कि उसके लड़का होने की बात उसकी माँ और अन्य बहनों तथा सहेलियों को मालूम हो गई है और वे उसे बड़े ताने दिया करती हैं। उसके प्रति उनका व्यवहार भी बदल-सा

गया है। इन सबका उसके स्वास्थ्य पर और भी बुरा असर पड़ा और वह कहीं अधिक दुर्बल हो गई। इन परिस्थितियों में मैंने उसे लन्दन लौट आने को लिखा और यह भी कि जब तक उसे कोई काम न मिले, वह मेरे साथ ही बनी रहे। इसी बीच मैंने सुना कि उसके बच्चे को एक निःसन्तान धनाढ्य दम्पति ने गोद ले लिया है।

मेरा पत्र मिलने के दो-तीन दिन बाद ही डोरोथी लन्दन लौट आई। उसका चेहरा इतना पीला और शरीर इतना कृश हो गया था कि वह पहचानने में ही नहीं आती थी। मेरे सामने आते ही उसकी आँखें अनायास भर आईं और कातर स्वर में वह बोली—'मिस्टर शर्मा, बच्चे के बिना मैं ज़िन्दा नहीं रह सकूँगी। चलिए, उसे वापस ले आयें। जिन्होंने उसे गोद लिया है, उनका घर तो आपने देखा ही होगा ?'

'नहीं'—मैंने कुछ गम्भीर होकर कहा—'लेकिन मिस डोरोथी, इस बारे में जल्दबाज़ी करना अच्छा नहीं। आप एक बार ठण्डे दिमाग़ से आगा-पीछा सब सोच देखिए और फिर आपके तथा बच्चे के लिए जैसा ठीक हो, वही कीजिए। आपके पास न इतना समय है और न सुविधा ही कि आप सम्यक ढङ्ग से उसका पालन-पोषण कर सकें और शिक्षादि का समुचित प्रबन्ध कर सकें। मेरी आर्थिक स्थिति भी इस समय विशेष अच्छी नहीं है। आपको तो इस बात की और ख़ुशी होनी चाहिए कि जिस घर में वह गया है, वहाँ न केवल उसका लालन-पालन ही अच्छी तरह होगा, बल्कि उसे श्रेष्ठतम शिक्षा भी मिल सकेगी और बड़ा होकर वह ख़ासी सम्पत्ति का स्वामी भी बनेगा।'

'नहीं, नहीं, नहीं!'—डोरोथी ने झल्ला कर कहा—'दुनिया में क्या सभी सुशिक्षित और सम्पत्तिशाली ही हैं? मैं उसे अपनी आँखों से दूर नहीं कर सकती, नहीं कर सकती—हर्गिज़ नहीं कर सकती।'

अपना वाक्य पूरा करते-करते डोरोथी इतनी आवेश में आ गई थी कि उसे एक कुर्सी का सहारा लेना पड़ा। मैंने उसका हाथ अपने हाथ

में लेते हुए उसे सोफ़े पर ले जाकर बिठाया और सान्त्वनापूर्ण स्वर में बोला—'मिस डोरोथी, आप यह भूल जाती हैं कि आप अस्वस्थ और दुर्बल हैं। आखिर इतने आवेश में आने की ज़रूरत क्या है ?'

'ओह, मुझे खेद है, मि० शर्मा !'—रूमाल से अपने ललाट पर आई हुई पसीने की बूँदों को पोंछते हुए डोरोथी ने सोफ़े की पीठ का सहारा लेते हुए कहा—'लेकिन मैं करूँ भी तो क्या ? काश, आप मेरी स्थिति में होते, आप उस बच्चे की माँ होते ! उसके बिना मैं कैसे रह सकती हूँ, मि० शर्मा ? वह मेरा प्राण है, मेरे कलेजे का टुकड़ा, मेरी आँखों का तारा, मेरा वह लाड़ला !'

'आपकी स्थिति मैं खूब समझता हूँ, मिस डोरोथी। लेकिन आपके इस लाड़-दुलार से उसका बनेगा क्या ? उसकी ज़िन्दगी खराब ही तो होगी। ज़रा उसके भविष्य का भी तो खयाल कीजिए।'

इस बार डोरोथी कुछ न बोली। आँखें फाड़-फाड़ कर मेरी ओर देखती ही रही। फिर एक क्षण बाद उछल कर खड़ी हो गई और मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए बोली—'मि० शर्मा, एक विचार मुझे सूझा है। वे लोग बच्चे के लिए कोई आया तो रखेंगे ही, क्यों न मैं एक अपरिचित के रूप में जाकर उनसे उस जगह के लिए आवेदन करूँ। इस तरह मैं बच्चे को रोज़ जी-भर कर देख भी लिया करूँगी और उसका भविष्य भी नष्ट न होगा।'

'हाँ, आपका यह विचार बुरा नहीं है। शायद अभी आया उन्होंने कोई न रक्खी हो।'

'और अगर रख भी ली हो, तो मैं उनके यहाँ साधारण नौकरानी का ही काम कर लूँगी। जब उन लोगों के पास काफ़ी पैसा है, तो एक नौकरानी अधिक....'

'अच्छा-अच्छा, ठीक है। फिर सोचेंगे। अभी आप आराम....'

'नहीं, मि० शर्मा !'—डोरोथी ने मेरा हाथ पकड़ कर दरवाज़े

की ग्रोर बढ़ते हुए कहा—'फिर-विर नहीं, ग्रभी इसी वक़्त चलना होगा।'

'लेकिन उनका पता-ठिकाना भी तो मुझे नहीं मालूम।'

'ग्राइए, वह शिशु-रक्षा-केन्द्र से मिल जायगा। शुभ कामों में देर करना ठीक नहीं।'—यह कह कर वह मेरा हाथ खींचते हुए दरवाज़े के बाहर ले गई। उसका ग्रनुरोध टालना मेरे लिए ग्रब सम्भव नहीं था।

शिशु-रक्षा-केन्द्र की व्यवस्थापिका से हम लोगों ने जाकर डोरोथी के बच्चे को गोद लेनेवाले सज्जन का पता-ठिकाना दरियाफ़्त किया ग्रौर उनके निवास-स्थान की ग्रोर चल पड़े। पते में लिखे हुए नम्बर-वाले मकान के सामने पहुँच कर जब मैंने घंटी बजाई, तो एक ग्रधेड़ महिला ने ग्राकर दरवाज़ा खोला। मैंने पूछा—'क्या मिस्टर ग्रौर मिसेज़ रिचार्डसन यहीं रहते हैं?'

'जी नहीं'—बड़ी नम्रतापूर्वक उस महिला ने कहा—'पहले यहाँ रहते ज़रूर थे, पर युद्ध की ग्राशङ्का के कारण वे दोनों ग्रमरीका चले गये हैं।'

'क्या ग्राप हमें उनका वहाँ का पता-ठिकाना दे सकती हैं?'—डोरोथी ने बड़ी उत्सुकतापूर्वक पूछा।

'मुझे खेद है, मैं वह सब कुछ नहीं जानती।'

'ग्रच्छा, बहुत-बहुत धन्यवाद। ग्रापको जो कष्ट दिया उसके लिए क्षमा करें।'—मैंने कहा ग्रौर मुस्करा कर उस महिला ने दरवाज़ा बन्द कर लिया।

ज्योंही चलने के लिए मैंने डोरोथी की ग्रोर देखा; जान पड़ा कि उसे चक्कर ग्रा गया है ग्रौर ग्रगर मैं उसे ग्रपने हाथ का सहारा न देता, तो शायद वह वहीं गिर पड़ती!

कला की डायरी

उस दिन जब मैं चाय का प्याला ले कर विनू भैया के कमरे में गई, तो देखा कि सारी मेज़ पर स्याही और पेंसिल से लिखे, मुड़े-मुड़ाये, छोटे-बड़े, सफ़ेद और बादामी काग़ज़ों के टुकड़े-ही-टुकड़े फैले पड़े हैं और चाय रखने को उस पर कहीं भी जगह नहीं है। पास ही में कुर्सी पर मूर्ति की तरह अचल बैठे विनू भैया उन्हें इस तरह निर्निमेष दृष्टि से देख रहे हैं, मानो कोई बगुला मछली की ताक लगाए हो। मैंने प्याले-सहित अपने दोनों हाथ उनके सिर पर रख दिये और हँसी रोक कर खड़ी हो गई।

अपना बायाँ हाथ ऊपर उठा कर प्याला छूते हुए उन्होंने कहा—"कौन,. कला ? यह क्या पागलपन है री ?"

"पागलपन नहीं भैया, चाय है !"—मैंने अपनी हँसी रोकते हुए गम्भीरतापूर्वक कहा।

मेरा हाथ छोड़ कर मेज़ के एक कोने पर के काग़ज़ों को हटाते हुए वे बोले—"तो चाय रखने की जगह मेरा सिर ही है क्या ?"

"फिर कहाँ रक्खूँ ? मेज़ पर तो जगह दिखाई नहीं देती और नीचे रखने के लिए आप पहले ही मना कर चुके हैं !"—बड़े भोलेपन के साथ मैंने कहा।

"बस बाबा, अब माफ़ कर। ला, यहाँ रख !"

भैया को चिढ़ाने की ग़रज़ से मैंने चाय का प्याला मेज़ पर ख़ाली की हुई जगह पर न रख कर एक पेंसिल से लिखे सफ़ेद काग़ज़ के टुकड़े पर रख दिया। प्याला रख कर अभी मैं अपना हाथ हटा भी नहीं पाई थी कि भैया चिल्ला उठे—"अरी, ओ अन्धी ! देख, देख, वह काग़ज़

अगर ख़राब हो गया, तो बस फिर आज तेरी ख़ैर नहीं है। फाँसी पर चढ़वा दूँगा, समझी ?"

प्याला वहीं छोड़ कर मैं उनके सामनेवाली कुर्सी पर बैठ गई और मेज़ पर इधर-उधर नज़र दौड़ाते हुए पूछा—"भैया, आख़िर इन रद्दी काग़ज़ों के टुकड़ों में धरा क्या है ? क्यों आप इनके पीछे दीन-दुनिया को भुला बैठे हैं ? न कहीं आना, न जाना। रात-दिन यही कमरा, यही मेज़ और यही काग़ज़ के रद्दी टुकड़े ! भला आपको यह हो क्या गया है ?"

विनू भैया की मुद्रा कुछ गम्भीर हो गई। चाय की चुस्की लेते हुए वे बोले—"तू इनका महत्त्व नहीं समझ सकेगी, कला। यह मेरी जेल की डायरी की अँतड़ियाँ हैं ! वहाँ रोज़ मैंने जो-कुछ देखा, सुना, सोचा, अनुभव किया या स्वप्न के रूप में देखा—वह सब इन काग़ज़ के टुकड़ों में सङ्केत-रूप में लिपि-बद्ध है। जिस दिन मेरी यह डायरी छपेगी, देखना, साहित्यिक संसार में हलचल मच जायगी, हलचल ! समझी ? यही तो मेरे जेल-जीवन की निधि है, और शायद किसी दिन कला-पारखी लोग इसे साहित्य की निधि के रूप में भी स्वीकार करें।"

और मैंने देखा, उदास विनू भैया अनायास अपने 'मूड' में आ गए और न मालूम अपनी उस डायरी के सम्बन्ध में क्या-क्या कह गए। फिर उन्होंने एक के बाद एक काग़ज़ का पुर्ज़ा उठाया और मुझे अपनी डायरी की बातें सुनाने लगे। कभी हम दोनों उदास हो जाते, कभी आँसुओं से आँखें भर आतीं, कभी हृदय दहल जाता और कभी दोनों खिलखिला कर हँस पड़ते।

उस दिन पहली बार मैंने जाना कि 'डायरी' में धोबी के कपड़े, लोगों के पते और दैनिक आमँद-ख़र्च के हिसाब के अलावा कुछ और भी लिखा जाता है या लिखा जा सकता है।

डायरी की व्यापकता अभी मेरे मस्तिष्क पर अपनी गहराई की छाप पूरी तरह डाल भी नहीं पाई थी कि एक दिन विनू भैया के जीवन

की ही डायरी समाप्त हो गई ! अपने जीवन की सारी स्मृतियों—अपनी डायरी—को प्रकाशित करवा कर साहित्यिक निधि बनाने की साध और भविष्य के सुनहले स्वप्नों को वे अपने साथ ही ले गए। पर अपनी स्मृति के चिह्न-स्वरूप वे अपनी डायरी के उन पुर्ज़ों को मेरे ही पास छोड़ गए। कुछ दिनों तक तो मैंने एकान्त में बैठ कर उनमें लिखे सङ्केतों से सारी बातें समझने की चेष्टा की; पर जब कुछ पल्ले न पड़ा, तो उन्हें बाँध कर रख दिया और तय किया कि अब मैं भी अपनी डायरी लिखा करूँगी—इसी अगली पहली तारीख़ से !

भीष्म-प्रतिज्ञा की तरह निश्चय तो ख़ूब पक्का कर लिया कि पहली तारीख़ से डायरी लिखूँगी, पर जब पहली तारीख़ को लिखने बैठी, तो नज़र बार-बार डायरी के काग़ज़ की रूलों और फ़ाउण्टेन-पेन के निब में ही जैसे उलझ रहती और समझ में नहीं आता कि आख़िर लिखूँ क्या ? स्कूल और कुछ सगे-सम्बन्धियों और दो-एक सहेलियों के घरों के सिवा कहीं आना, न जाना। दिन-रात घर की चहार-दीवारी में क़ैद रहने-वाली मध्य-श्रेणी के एक हिन्दू-घराने की लड़की आख़िर लिखे भी तो क्या ? कई बार दिमाग़ को खरोंच-खरोंच कर कुछ लिखने की कोशिश की, पर सफलता नहीं मिली। लेकिन बार-बार यही ख़याल आता था कि यह नोट-बुक ख़रीदी गई है डायरी लिखने के लिए, फिर इसे कोरा क्यों रहने दिया जाय ? यही सोचते-सोचते आख़िर मेरा मानसिक व्यायाम सफल हुआ और रात के बारह बजते-बजते मैंने पहली तारीख़ की डायरी लिख ही डाली। उस दिन की डायरी लिख लेने पर मुझे प्रसन्नता तो विशेष नहीं हुई, पर यह सन्तोष ज़रूर हुआ कि मैं भी डायरी लिख सकती हूँ और आज ही से लिखना शुरू करती हूँ !

पहले दिन की डायरी इस प्रकार थी :

"आज घंटों मगज़ मारने पर भी कुछ समझ में नहीं आया कि क्या लिखूँ। इसलिए यही लिख कर सन्तोष करती हूँ कि आज कुछ भी नहीं

लिख सकी ! . . . .आज यही समझ कर मैंने अपने-आपको क्षमा कर दिया कि एक तो यह मेरा पहला 'अपराध' है, दूसरे मैंने अपने-आपको यह आश्वासन दिया है कि कल ज़रूर कुछ-न-कुछ लिखूँगी। . . .लिख तो शायद आज भी कुछ लेती, लेकिन घड़ी अब बारह बजाने जा रही है और पहली तारीख़ मेरी डायरी के लिखे जाने की प्रतीक्षा न कर भाग जाना चाहती है ! इसलिए आज बस इतना ही। अब मैं सोने जा रही हूँ। सबको नमस्कार।"

– २ –

उस दिन जब मैं स्कूल से लौटी, तो घर का बाहरवाला दरवाज़ा बन्द था। दरवाज़े के पास आकर मैंने दस्तक देने को हाथ उठाया ही था कि भीतर कुछ अजीब-सा कुहराम मचा हुआ सुनाई दिया। दस्तक न दे कर मैं किवाड़ों की दरार से कान लगा कर सुनने लगी। माँ और पिता जी में ऊँचे-ऊँचे स्वर में कुछ बहस-सी हो रही थी। पिता जी की बात मैं ठीक-ठीक सुन नहीं सकी; पर माँ शायद दरवाज़े के पास से ही बोल रही थीं, इसलिए उनकी बातें मैंने साफ़-साफ़ सुनीं। वे कह रही थीं—"तुम भी क्या बाल की खाल निकालते हो ? वह इतना क्या समझती है ? यों ही खेल-खेल में कुछ लिख दिया होगा, और तुम चले हो रामायण की तरह उसकी टीका करने ! भला, बच्चों की बातों पर भी क्या कोई ग़ुस्सा होता है !"

और तब पिता जी ज़रा तेज़ होकर बोले—"तुम तो हो बेवक़ूफ़, और ऐसी ही है तुम्हारी यह लड़की ! १७वाँ साल जा रहा है, और तुम कहती हो कि अभी निरी बच्ची ही है, नासमझ है ! जो बाप के लिए ऐसा लिख सकती है, वह औरों को क्या बख़्शेगी ? याद रखना, यह जिसके घर जायगी, मेरी और तुम्हारी दोनों की नाक कटवायगी।"

इसके बाद माता जी कुछ नहीं बोलीं। कोई आधा मिनट तो मैंने

उनकी बात सुनने की प्रतीक्षा की, पर जब किसी की भी आवाज़ सुनाई नहीं दी, तो मैंने सारा साहस बटोर कर दरवाज़े पर दस्तक दी। माँ ने आकर किवाड़ खोले और मुझे देख कर मुस्कराते हुए कहा—"बड़ी उम्र है री तेरी ! अभी हम लोग तेरी ही याद कर रहे थे। चल, जल्दी से कपड़े बदल। आज रोटी तुझे ही करनी होगी और सब चीज़ें तो मैं बना चुकी हूँ।"

माँ की बात का बिना कुछ जवाब दिए ही कनखियों से सहन में घूमते हुए पिता जी के पाँवों की ओर देखते हुए मैं अपने कमरे की ओर जल्दी से बढ़ना ही चाहती थी कि उन्होंने पुकारा—"बेटी कला, यह मैं क्या देख रहा हूँ ? तूने इस डायरी में मेरे लिए यह क्या-कुछ लिख दिया है ? मैं तो तुझे बड़ी समझदार समझता था, बेटी !"

अपराधिनी की तरह आँखें ज़मीन में गड़ाए मै चुपचाप जहाँ-की-तहाँ खड़ी रही। भय और लज्जा से मेरी देह थर-थर काँप रही थी, गला सूख रहा था और चाहने पर भी जैसे पाँव उठ नहीं रहे थे। ऐसा मालूम हो रहा था, मानो आज लोगों की आँखों से छुपा कर किया गया कोई बहुत बड़ा पाप या अपराध सहसा सब पर प्रकट हो गया हो। पर सौभाग्यवश माँ ने ऐसे सङ्कट के समय मेरी सहायता की और मेरी बाँह पकड़ कर कमरे की ओर ले जाते हुए पिता जी को सम्बोधित कर कहा—"तुम भी क्या आते ही हाथ धो कर लड़की के पीछे पड़ गए ! अरे, कुछ पूछना ही है, तो क्या रोटी बनने के बाद नहीं पूछ सकते ? ऐसा आख़िर उसने क्या लिख दिया है, जो बाक़ायदा तफ़तीश-सी करने लगे ?"

पिता जी का मुझ पर अपार स्नेह था। वे कुछ बोले नहीं और मेरे कमरे की चौखट के पास डायरी फेंक कर अपने कमरे में चले गए। डायरी को देख कर मेरा कलेजा धक्-से हो गया ! मैं तो उसे सबसे छुपा कर, अपने कपड़ों के बीच में दबा कर, ताले में बन्द रखती थी। आख़िर वह पिता जी के हाथ कैसे लगी ? पर अब यह जानने की चेष्टा करना

व्यर्थ था। जो कुछ मैंने लिखा था, उन्होंने पढ़ तो लिया ही था—फिर चाहे जैसे भी क्यों न पढ़ा हो।

काँपते हुए हाथ से मैंने डायरी उठा ली और उसे किताबों के साथ ही अपनी अलमारी में रख कर कपड़े बदलने लगी। कपड़े बदलते समय मैंने देखा कि सामनेवाले शीशे में मेरी जो आकृति दिखाई पड़ रही है, आँसुओं के अलावा भी उसके उदासी की मूर्ति होने में कोई क़सर नहीं है। और सचमुच मैं उस दिन बहुत उदास हो गई थी—इतनी, जितनी कि शायद पहले कभी नहीं हुई। रह-रह कर मेरे कानों में पिता जी के ये शब्द गूँज रहे थे—"तुम तो हो बेवक़ूफ़, और ऐसी ही है तुम्हारी लड़की! १७वाँ साल जा रहा है, और तुम कहती हो कि अभी निरी बच्ची ही है, नासमझ है।....मेरी और तुम्हारी दोनों की नाक कटवायगी!" आग की तरह मेरी दोनों कनपटियाँ जलने लगीं और आँखों से आँसू बहने लगे। आज शायद पहली बार मैंने समझा कि मैं और जो-कुछ भी होऊँ, पर नासमझ या निरी बच्ची नहीं रही; वर्ना पिता जी की बातों पर यह उदासी और आँसू क्यों आ जाते? माँ-बाप किसे कुछ कहते-सुनते नहीं? मैं ही फिर क्यों बुरा मान रही हूँ? मुझमें ही भला फिर यह विवेक क्यों?

कपड़े बदल कर मैं रसोई-घर की ओर जाना ही चाहती थी कि सहसा रुक गई। सोचा, ज़रा जल्दी से डायरी के पन्ने उलट-पलट कर देख तो लूँ कि आख़िर उसमें ऐसी क्या बातें पिता जी के लिए लिखी गई हैं कि जिनसे उन्हें इतना दुःख हुआ। और मैं दूसरे ही क्षण अलमारी के पास पहुँच गई और डायरी के पन्ने उलटने-पलटने लगी। १७ जनवरी की डायरी का एक वाक्य-समूह सामने आया—

"आज मैंने सन्ध्या नहीं की। पिता जी नाराज़ हुए। पूछने पर मैंने कहा कि ईश्वर और सन्ध्या-पूजन में मेरी आस्था नहीं। उन्होंने लगभग एक घंटे तक ईश्वर की महिमा और सन्ध्योपासना से होनेवाली मनःशुद्धि पर उपदेश दिया। पर मुझे उन सब बातों पर विश्वास फिर

भी नहीं हुआ। मैंने कहा कि बिना आस्था के पत्थर पूजना जितना बड़ा पाखण्ड है, बिना समझे या हृदय से विश्वास किये सन्ध्या करना भी उतना ही बड़ा ढोंग है। इस पर वे बिगड़े और....।"

मेरे मन ने कहा—यह सब तो सत्य बातें हैं, इनसे कोई भला क्यों नाराज़ होगा? मैंने अपने मन ही की बातें तो लिखी हैं। और तब आगे के पन्ने उलटने लगी। १५ मार्च के दिन की डायरी के निम्न वाक्य-समूह पर फिर दृष्टि रुक गई। वह इस प्रकार था:

"साढ़े ग्यारह बज गए, पर नींद नहीं आ रही। पानी पीने जब खिड़की के पास गई, तो सुना पिता जी माँ को समझा रहे हैं कि मुझे अधिक पढ़ाने का उनका विचार क्यों नहीं है। 'अधिक पढ़ कर लड़कियाँ हाथ से निकल जाती हैं—बिगड़ जाती हैं!' बिना पानी पिए ही मैं लौट आई और झुंझला कर चारपाई पर लेट रही। ख़याल आया—कौन होते हैं पिता जी मुझे पढ़ाने या न पढ़ानेवाले। मैं जितना चाहूँगी, पढ़ूँगी। गिरीश और प्रकाश अगर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, तो फिर अकेली कला ने ही क्या अपराध किया है? यही न कि वह लड़की है, और हिन्दुस्तान में पैदा हुई है? तब फिर उसको गला घोंट कर ही....।"

फिर सहसा मेरी आँखें न-जाने क्यों सजल हो आईं और साड़ी के छोर से उन्हें पोंछ कर मैंने आगे के पृष्ठ उलटे। २९ मार्च की डायरी के निम्न वाक्य-समूह ने फिर मेरी दौड़ती हुई दृष्टि को जैसे बाँध-सा लिया। बड़ी घसीट-सी हस्तलिपि में वह इस प्रकार लिखा था:

"गिरीश ने मुस्कराते हुए आज जब मनीआर्डर की एक रसीद मेरे सामने रख कर पूछा कि—'कला, अच्छा बतला, यह लाला लक्ष्मणप्रसाद कौन हैं?' तो मैंने सहज भाव से कह दिया—होंगे कोई पिता जी के दोस्त-वोस्त। तब उसने खिलखिला कर कहा—'अरी नहीं, ये हैं, तेरे भावी ससुर! इन्हीं के लड़के रामप्रसाद से तो तेरी शादी तय हुई है और यह ठहरौनी के रुपयों की रसीद है। बोल, अब तो मुँह मीठा

करायगी न ?' मैं झल्ला उठी। गिरीश भाग गया। पर मुझे जैसे साँप काट गया हो ! ठहरौनी और मुझे ख़बर तक नहीं ? शादी मुझे करनी है, पिता जी को तो नहीं। मेरी इच्छा और अनुमति के बिना मेरी शादी कोई नहीं कर सकता—किसी से भी नहीं। पिता जी स्वयं समाज-सुधारक और प्रगतिशील (?) विचारों के हो कर भी....।"

ओह ! बस, यही होगी वह बात, जिससे पिता जी बुरा मान गए। पर यह भी तो सत्य ही है। लेकिन सत्य से बुरा कौन नहीं मानता ? अपने बारे में दो टूक सत्य—सच्ची, खरी आलोचना—कितने लोग बर्दाश्त कर सकते हैं ? तब क्या सत्य का यह आदर्श और उपदेश....?

माँ की आवाज़ कानों में पड़ते ही डायरी अल्मारी में रख कर मैं रसोई-घर की तरफ़ चल पड़ी; पर मुझे ऐसा लगा—मानो पिता जी के प्रति मेरे मन में आज पहली बार कुछ विराग-सा पैदा होने लगा।

— ३ —

विराग ही क्यों, आगे चल कर तो पिता जी के प्रति मेरे मन में घृणा भी पैदा हुई। पर अब मैं सोचती हूँ कि अकेले वे ही तो दोषी नहीं थे। उनके जैसे न-मालूम कितने स्नेहशील 'समझदार' पिता कला-जैसी अबोध कन्याओं की गर्दन पर अपने अधिकार की छुरी चलाते हैं ! बज़ातख़ुद वे क्या बुरे हैं ? वे तो समाज की उसी व्यवस्था और परम्परा की प्रतिक्रिया-मात्र हैं, जिसने उन्हें ऐसी परिस्थितियों में पैदा किया ! उन पर ही क्यों, उस दिन तो मुझे अपने-आप पर भी घृणा हुई, जब कि डायरी लिखने का मेरा साहस और स्पष्टवादिता डायरी के पृष्ठों में ही बन्द रह गई और मैं ब्राह्मण को दान की गई गौ की तरह लाला लक्ष्मणप्रसाद की वंश-रक्षा के निमित्त उनके आत्मज के सुपुर्द कर दी गई ! उस समय मेरा रोम-रोम विद्रोह की आग से जल रहा था, पर मैं, न-जाने क्यों, पत्थर की मूर्ति-सी निर्जीव और निःशक्त बनी पालकी पर सवार होकर अपने सुहाग

का आवाहन करने जा रही थी ! मेरा साहस और दृढ़ निश्चय उस समय न जाने कहाँ चला गया था ! डायरी के पृष्ठों का कवित्व और जीवन की महत्त्वाकांक्षाओं के सुख-स्वप्नों का स्वर्ण-संसार अपने ही पाँवों से रौंद कर मैं न-जाने कहाँ जा रही थी !

पर जाना मुझे पड़ा—अपनी इच्छा के विरुद्ध, अपने प्रतिपादित विचारों के बावजूद। मैं समझती हूँ कि वह मेरी मजबूरी की सीमा थी। कदाचित् उसी दिन मैंने हिन्दू-नारी की विवशता का कुछ अनुभव किया। मैं देख रही थी—सारे उत्सव और राग-रङ्ग की रंगीनी के भीतर मेरे अँधेरे भविष्य और करुण जीवन की छाया छिपी है। उसके प्रकट होने में विशेष समय भी नहीं लगा। पर उसके डर से अब पीछे लौटना कठिन था। एक बार घर से पीले हाथ करके निकाली गई हिन्दू-कन्या के लिए आग या कुएँ के अलावा और कहाँ प्रश्रय है ?

ससुराल आते समय डायरी मैं अपने साथ ही लेती आई थी, और उसे लिखने का ख़ब्त भी। जब-तब समय निकाल कर उसमें अपने इस नए वातावरण के जीवन की बातें, तीखे-कड़ुए अनुभव और कल्पना की उड़ानों को टाँक लेती थी। अक़सर जब घर के लोग सोए होते या बाहर गए होते, तब मैं अपनी डायरी लिखा करती थी। एक-दो बार सास ने जब मुझे बड़ी तन्मयतापूर्वक डायरी लिखते देखा, तो उन्हें कुछ कौतूहल-सा हुआ और शायद संशय भी। पर चूँकि वह मेरा 'पहला अपराध' था, सम्भवतः इसीलिए वे कुछ न बोलीं। कुछ दिन बाद एक बार फिर उन्होंने मुझे देख लिया और झुँझला कर मेरे सिर पर चढ़ती हुई-सी बोलीं—'बहू, तेरे ये लच्छन अच्छे नहीं ! आख़िर रोज़-रोज़ तू ये लम्बी-लम्बी चिट्ठियाँ लिखती किसे है ? अगर रामू को पता लग गया, तो वह तेरी खाल उधेड़े बिना न छोड़ेगा !"

सास की इस डाँट-फटकार ने मेरी आँखें खोल दीं। अभी मैं कुछ कहने ही जा रही थी कि ज़रा उग्र मुद्रा बना कर वे फिर बोलीं—

"आख़िर मैके में ऐसा तेरा कौन यार बैठा है, जिसे रोज़-रोज़ चिट्ठी लिखती है ? तुझे शर्म नहीं आती....!"

"नहीं; शर्म की इसमें कौन-सी बात है ?"—मैंने बीच में ही सास की बात को काटते हुए ज़रा दृढ़ता से कहा। मैंने देखा कि अब और ज़ब्त करना मेरे लिए एकदम असम्भव-सा हो गया था। मेरी आँखों में ख़ून उतर आया था। फिर सारा साहस बटोर कर मैंने कहा—"लेकिन आपको मालूम है कि आप बिना जाने-समझे मुझ पर एक झूठा और निराधार आक्षेप लगा रही हैं। मैं पत्र कब और किसे लिखती हूँ ?"

मेरी इस 'मुँहजोरी' से सास का पारा चढ़ गया। ज्वालामुखी की तरह उबलते हुए उन्होंने कहा—"बस, बस चुप कर, कलमुँही कहीं की ! मुझे झूठा बतलाती है ? तेरे मुँह में कीड़े....!"

इसी समय 'वे' आ गए। सास ने अपनी आवाज़ को ज़रा नरम कर आँखों में आँसू लाते हुए कहा—"रामू, देख बेटा, यह रोज़-रोज़ का कलह अच्छा नहीं। बहू हर वक़्त मुझे बुरा-भला कहती है। देख, अभी-अभी मुझे झूठा बतला रही थी। घोर कलजुग है बेटा, नहीं तो इन सफ़ेद बालों में इस तरह आज धूल क्यों पड़ती !" वे सचमुच सिसक-सिसक कर रोने लगीं। उनके इस नाटकीय अभिनय को देख कर मैं दङ्ग रह गई। अभी मैं पूरी तरह इस पर आश्चर्य भी प्रकट नहीं कर पाई थी कि 'वे' लाल-लाल आँखों से घूरते हुए मेरी ओर बढ़े। मैंने भी तय कर लिया था कि आज सारी बातें खोल कर उनके सामने रख दूँगी। रोज़-रोज़ का यह पचड़ा मुझे भी पसन्द नहीं था। सास ने मुझे तङ्ग करना जैसे अपना पैतृक अधिकार-सा समझ रक्खा था।

अभी मैं कुछ कह भी नही पाई थी कि नथुने फुलाते हुए 'वे' आगे बढ़े। उनकी आँखें क्रोध से लाल हो आई थीं और शरीर थर-थर काँप रहा था। मैंने समझा कि शायद वे मुझ पर ग़ुस्सा होंगे, मुझसे कुछ कहेंगे; पर वे बोले कुछ भी नहीं। ज़रा नज़दीक आ कर उन्होंने कस के

एक लात मेरे ठीक पेट पर मारी और दूसरे ही क्षण में सारी सुध-बुध भूल गई। बेहोश होते-होते मैंने सास की एक चीख़ ज़रूर सुनी थी। आगे नहीं मालूम....।

— ४ —

सास ने मुझे पानी देना भी बन्द कर दिया था। न-मालूम किससे एक दिन वे कह रही थीं कि बहू कैसे मक्कर किए रानी की तरह पलङ्ग पकड़े पड़ी है। हुआ-उआ तो कहीं कुछ भी नहीं। पर 'वे' दिन में एक बार आकर ज़रूर मुझे देख जाते। कभी पूछ लेते कि तबीयत कैसी है और कभी बिना पूछे ही सिर्फ़ अपनी सूरत-भर दिखा कर चले जाते। मैंने भी उनके प्रश्नों का उत्तर देना छोड़ दिया।

मेरी हालत सुधर रही थी या बिगड़, यह तो मुझे भी ठीक-ठीक नहीं मालूम; पर एक दिन मैंने अकस्मात् अपने-आपको पाग़लख़ाने के एक कमरे में पाया। उस दिन से एक नौकर मुझे खाने-पीने को दे जाता और मेरा हाल-हवाल पूछ जाता। एक दिन मेरे यह पूछने पर कि राम बाबू खुद इधर क्यों नहीं आते, उसने ज़रा झिझकते हुए किन्तु बड़े सहानुभूतिपूर्ण स्वर में कहा—"उन्होंने पिछले महीने में ही तो नया विवाह किया है। उनकी पहली स्त्री पागल हो गई बताते हैं ! क्या बहू जी, आप ही उनकी पहली....?" और वह चुप हो गया।

मेरा चेहरा फ़क् हो गया। नौकर के शब्द और अपने कानों पर मुझे सहसा विश्वास नहीं हुआ। पर उससे और कुछ पूछने की मेरी जिह्वा में जैसे शक्ति ही न थी। उसके चले जाने पर मैंने कमरे की हर चीज़ को ग़ौर से देखा और अपने-आपसे मन-ही-मन पूछा कि यह क्या चीज़ है ? मैं इसे उसी रूप में देख रही हूँ, जैसी कि वह है या और कुछ ? सब-कुछ तो ठीक जान पड़ रहा है, फिर लोग मुझे यहाँ क्यों ले आए ? मुझे पागल क्यों बतलाते हैं ? यह सब आख़िर क्या माजरा है ? क्या

मैं किसी से बोलती नहीं या बोलना नहीं चाहती, इसीलिए लोग मुझे पागल समझते हैं ? पर यह क्यों ? यह नाटक आखिर किस लिए ?

पागल मैं हरगिज़ नहीं थी—हाँ, यह डर अवश्य बना रहता था कि अगर रोज़-रोज़ मुझे सब लोग आकर पागल कहेंगे, तो शायद किसी दिन दरअसल मैं पागल हो जाऊँगी। पर मैं लोगों की ज़बान कैसे पकड़ सकती थी ? जब कभी नर्सों, डॉक्टरों या नौकरों से मैं झुँझला कर कहती कि तुम लोगों ने मुझे ज़बर्दस्ती पागल बनाने की क्यों ठानी है ? पागल मैं कैसे हूँ, जब कि तुम सब लोगों से भली भाँति—दुरुस्त होश-हवास में—बातें करती हूँ, दवा पीती हूँ, पथ्य लेती हूँ ? एक-दो बार तो इन लोगों की हृदयहीनता देख कर मैं आवेश में आ गई और दवा की प्याली फेंक कर दीवार से दे मारी और टूटे हुए पत्ते की तरह क्रोध से काँपती हुई तकिए पर गिर कर लेट गई। पर दुर्भाग्यवश आवेश में आ कर मैंने यह जो-कुछ किया, उसका नतीजा मेरे लिए अच्छा नहीं हुआ। मेरी इस क्रिया के बाद डॉक्टर को नर्स के कान में मैंने यह फुसफुसाते सुना—"इसे दौरा आ गया है। आओ, बाहर चले चलें। इसे अकेला छोड़ दो। थोड़ी देर बाद आकर देख जाना।"

जब तक मै आँख खोलूँ, तब तक वे दोनों मेरे कमरे से बाहर जा चुके थे। क्रोध से मेरा सिर फटने-सा लगा। यह क्या स्वाँग है ? 'दौरा' ? कैसा 'दौरा' ? किस बात का 'दौरा' ? यह सब क्या वाक़ई मुझे पागल समझ रहे हैं ? ओफ़, इनके और अपने लिए अब क्या किया जाय। फिर मैंने कमरे में रक्खी हुई एक-एक चीज़ को ग़ौर से देखा। अपने हाथों और नाख़ूनों को देखा। चूड़ियों को देखा। सब-कुछ तो ठीक मालूम हो रहा था। खिड़की से बाहर का शोर, और मोटरों के हॉर्न की आवाज़ भी स्पष्ट सुनाई दे रही थी। फिर यह सब क्या था ?

इसी समय 'उन्होंने' मेरे कमरे में प्रवेश किया। आज इतने दिनों बाद अचानक 'उन्हें' अपने निकट पा कर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ और

कुछ क्षोभ भी। मेरे कुछ कहने से पहले ही 'वे' बोल उठे—"कैसी तबीयत है तुम्हारी, कला? अब तुम्हें बहुत जल्दी ही घर लिवा ले चलेंगे।"

कोशिश करने पर भी मैं क्रोध के कारण अपने दाँतों का किटकिटाना रोक न सकी। रोने के साथ ही चीख़ते हुए मैंने कहा—'नीच, कुत्ते, पिशाच, नराधम; अगर तुझे दूसरी शादी ही करनी थी, तो मैं कब रोक रही थी? पर तूने मुझे पागल बनाने का यह स्वाँग क्यों रचा? शर्म नहीं आती तुझे? ओह!"

"चुप करो, कला!"—घबराई हुई आवाज़ में 'वे' बोले—"बाहर लोग सुनेंगे, तो क्या कहेंगे? यह अस्पताल है। यहाँ शोर करना....।"

"एकदम मना है! लेकिन यह शोर अब अदालत की देहरी तक पहुँच चुका है।"—एक युवती ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा। जवानी से धुली हुई उसकी सौन्दर्य-श्री भी उसकी मनोगत उदासी और क्रोध-मिश्रित घबराहट को छुपाने में समर्थ नहीं हो रही थी! क्रोध से उसके होंठ काँप रहे थे। 'उनका' चेहरा इस समय एकदम सफ़ेद पड़ गया था। मैं समझ नहीं सकी कि यह क्या माज़रा है? यह स्त्री कौन है? और अदालत की देहरी तक क्या बात पहुँच चुकी है?

आगन्तुका ने मेरे सिरहाने पड़े हुए स्टूल पर बैठ कर मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए पूछा—"अब तुम्हारी तबीयत कैसी है, बहन? नौकर से मुझे सारी बातें मालूम हो गई थीं। इस कम्बख़्त ने तुम्हारी और मेरी दोनों की ज़िन्दगी तबाह की है। पर अब हम भी इसे आसानी से छोड़ेंगी नहीं। इस नरपिशाच की काली करतूतों का भण्डाफोड़ अब हो चुका है। लात मार कर तुम्हारा गर्भ गिराने और पहली स्त्री के पागल होने की झूठी बात कह कर धोखे से मुझसे शादी करने का मामला अब अदालत में पहुँच गया है। तुम चिन्ता न करो। तुम्हारी सारी देख-रेख अब मैं करूँगी।"

मेरे मुंह से एक शब्द भी नहीं निकला; पर मेरी आँखों में आनन्दाश्रु उमड़ आए। धड़कते हुए हृदय से मैंने आगन्तुका को अपनी बाहों में कस कर छाती से लगा लिया। उसके गरम-गरम आँसुओं से धुल कर जैसे मेरा सारा 'पागलपन' एकबारगी ही बह गया! 'वे' न-मालूम कब उठ कर कमरे से बाहर चले गये थे।

इसी दिन से मैंने फिर डायरी लिखनेका तय किया—काफ़ी बातें जो मिल गई थीं लिखने को!

विवेक

हम तीनों घूमने चल पड़े। चारों ओर हिम-मण्डित पर्वतों और हरियाली की छटा देखते ही बनती थी। ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी। सान्ध्य-सूर्य की अरुण रश्मियों के प्रकाश से पहाड़ों की हिम-मण्डित चोटियाँ स्वर्ण-किरीट-सी जगमगा रही थीं। प्रकृति की इस स्वर्गोपम सुषमा का पान कर आँखें मानो अघाती ही नहीं थीं। रमा बाग़-बाग़ हो रही थी। कई बार उसके मुँह से निकला—"अहा! क्या अनुपम सौन्दर्य है!" पर मैं और गिरीन केवल आँखों से ही इस प्राकृतिक सौन्दर्य का पान करते हुए चुपचाप चले जा रहे थे। कुछ क्षण बाद रमा ने बारी-बारी से हम दोनों की ओर देख कर कहा—"अहा! कैसा अनूठा और अनुपम है यहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य! यथार्थ में दार्जिलिंग पहाड़ी स्थानों की रानी कहलाने के ही योग्य है!"

सहसा रुकते हुए गिरीन ने कहा—"लेकिन, रमादेवी, अभी आपने दार्जिलिंग में देखा ही क्या है? सड़कों के इधर-उधर आप यह जो-कुछ देख रही हैं, वही तो यहाँ का सब-कुछ नहीं है। यहाँ का वास्तविक सौन्दर्य तो वहाँ है, जहाँ बहुत कम मनुष्यों के मनहूस क़दम या हाथ पहुँच पाए हैं। आप लोग यदि थक न गए हों, तो यह जो उत्तर में मठ दिखाई पड़ रहा है, उससे ज़रा आगे चलें।"

मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही रमा ने स्वीकृति देते हुए कहा—"हाँ-हाँ, चलिए न! आख़िर यहाँ आए और किस लिए हैं? थकने की आपने भली कही! अरे, जितना ज़्यादा थकेंगे, उतनी ही भूख ज़्यादा लगेगी और नींद भी अच्छी आयगी!" और हम तीनों ठहाका मार कर हँस

पड़े। सड़क छोड़ कर हम लोग उसके पास ही की एक पगडंडी से उत्तर-पूर्व की ओर चल पड़े।

कुछ दूर पहुँच कर मठ आ गया। उसे भीतर जा कर देखने की हम में से किसी को भी कोई ख़ास उत्सुकता नही थी। अँधेरा अधिक होने से पहले हमें लौट भी आना था। अतः हम लोग उसके पास से होकर आगे निकल गए। आगे-आगे गिरीन चल रहा था, उसके पीछे रमा और सबसे पीछे मैं। पगडंडी सड़क से काफ़ी दूर हट कर दाहिने हाथ की तरफ़ नीचे की ओर चली गई थी। चारों ओर पहाड़ का ढलाव था, जिसे चौड़े हरे पत्तोंवाले पेड़ों, झाड़ों और लताओं ने एकदम ढँक-सा लिया था। जब-तब किसी पक्षी या जानवर की आवाज़ निस्तब्धता भंग कर जाती थी। कुछ और नीचे पहुँच कर एक शुभ्र झरना मिला, जो उन्मुक्त स्वच्छन्दता के साथ अपने अनियमित-अनिर्धारित पथ पर किलकारी मारता हुआ-सा दौड़ा जा रहा था। उसे जी-भर देख लेने के लिए कुछ देर हम लोग उसके पास रुके, फिर उसे लाँघ कर आगे बढ़ गये। अब पगडंडी ऊपर की ओर चढ़ गई थी। अतः हम लोग भी ऊपर की ओर ही चढ़ने लगे। चढ़ते-चढ़ते हम लोग एक चट्टान पर जा पहुँचे, जो एक ख़ासे चौड़े चबूतरे की तरह साफ़ और समतल थी। उसके पूर्व में एक काफ़ी चौड़ी और गहरी ख़न्दक थी, जिसकी वन-श्री सुन्दर किन्तु बड़ी भयावह जान पड़ती थी।

चट्टान के किनारे खड़े हो, सामने हाथ उठा कर गिरीन ने कहा—"वह सामने कलिम्पौंग है। और उसके पीछे जो तिरछी-सी पर्वतमाला दिखाई पड़ रही है, वही तिब्बत है। तिब्बती लोग कलिम्पौंग को 'कलिम्बौंग' कहते हैं, जिसका अर्थ है तिब्बत का दक्षिण-पूर्वी द्वार। बोलो, चलोगे कलिम्पौंग ?"

हम तीनों हँस पड़े। कुछ क्षण हम लोग उत्तर-पूर्व की उस पर्वत-माला और सामनेवाली ख़न्दक की ओर अपलक नेत्रों से देखते रहे।

फिर सहसा मौन भंग करते हुए गिरीन ने कहा—"इसे देख कर तुम्हारे मन में क्या भाव ग्रा रहे होंगे, बताऊँ ?"

"हाँ, बताग्रो न", वैसे ही मैंने कह दिया—"देखें, तुममें मनोविश्लेषण की कितनी शक्ति ग्रौर क्षमता है !"

स्थिर दृष्टि से ख़न्दक की ग्रोर देखते हुए ज़रा गम्भीर मुद्रा से गिरीन ने कहा—"तुम्हें डर लग रहा होगा। कायर जो ठहरे ! सौन्दर्य का उपभोग कायर नहीं कर सकते, राजीव !"

मैं दंग रह गया ! सचमुच मुझे ख़न्दक को देख कर डर मालूम हो रहा था। मेरी ग्राँखें उसकी वन-श्री देखने के बजाय जैसे सहसा किसी हिंस्र पशु के ग्राकस्मिक दर्शन के कारण भयभीत-सी हो रही थीं, ग्रौर कान उसकी घातक दहाड़ सुनने की ग्राशंका से जड़-से हो रहे थे। मन में तो यहाँ तक सोच गया था कि ग्रगर यहाँ से कहीं पाँव फिसल जाय, तो बस हड्डी-पँसली का भी पता न लगे। कदाचित् रमा भी कुछ भयभीत हो रही थी, पर गिरीन की बात सुन कर तो उसका चेहरा तमतमा उठा। शायद मेरे लिए गिरीन द्वारा 'कायर' शब्द का प्रयोग उसे भला नहीं लगा था। बात को हँसी में उड़ाने के ख़याल से मैंने ज़रा हँस कर कहा—"हाँ, भाई, तुम्हारा ग्रनुमान ठीक है ! वाक़ई इतनी गहरी ख़न्दक के किनारे खड़ा होने में मुझे तो डर ही मालूम हो रहा है ! लेकिन तुम ग्रपने मन की बात भी तो कहो ! भई, थोड़े-बहुत तो डरे तुम भी ज़रूर होगे ! क्यों, है न ठीक ?"

"नहीं !" उसी तरह गम्भीर मुद्रा से गिरीन ने कहा—"डर नाम की चीज़ बचपन से ही मैंने कभी नहीं जानी ! वह तो तुम-जैसों के लिए ही सुरक्षित है !"

रमा का मुँह यह सुन कर ग्रौर भी लाल हो उठा। मैं भी कुछ हतप्रभ हुग्रा। फिर बात सँभालने के ख़याल से बोला—"ग्रच्छा, सच-सच बताग्रो, तुम क्या सोच रहे हो ?"

तोप के मुंह की तरह अपने वज़नदार सिर को मेरी ओर घुमा कर गिरीन ने कहा—"सच-सच बताऊँ ? सुन सकोगे ? बोलो !"

और सहज भाव से मैंने कह दिया—"अरे हाँ भाई, कहो न ! आखिर ऐसी भी क्या बात है ?"

गिरीन का मुँह उसी तरह फिर ख़न्दक की ओर घूम गया। स्थिर दृष्टि से उसकी गहराई की ओर देखते हुए उसने कहा—"जी में आता है, राजीव, कि तुम्हें यहीं से इस ख़न्दक में धकेल दूँ ! सच, मज़ाक़ नहीं !"—और वह हँसा नहीं।

गिरीन की बात सुन कर मैं तो सन्न रह गया। जिस दृढ़ता और गम्भीरता से उसने यह बात कही थी, उसमें मज़ाक का परोक्ष आभास भी नहीं था। मैं कुछ बोलूँ, इससे पहले ही देखता क्या हूँ कि रमा की पुतलियाँ फैल गईं, उसका चेहरा और भी तमतमा उठा, और एक मर्म-भेदी चीख़ के साथ दाँत पीस कर उसने कहा—"चाण्डाल कहीं का !" और दोनों हाथों से पूरे ज़ोर के साथ उसने अपना बैग गिरीन के मुँह पर दे मारा। मैं तो यह देख कर हक्का-बक्का रह गया। यदि सँभालता नहीं, तो आश्चर्य नहीं कि रमा अर्द्ध-मूर्च्छित हो वहीं गिर पड़ती।

गिरीन का चश्मा टूट कर खन्न-खन्न करता हुआ ख़न्दक के अन्दर जा गिरा। उसकी बाईं आँख के बिलकुल नीचे गाल के ऊपर की हड्डी के पास टूटे हुए शीशे का एक टुकड़ा चुभा भी मालूम पड़ता था। वहाँ ख़ून झलक रहा था। गिरीन ने जेब से रुमाल निकाल कर ख़ून पोंछा, और बिना कुछ बोले, बिना मेरी और रमा की ओर देखे, जिस पगडंडी से हम लोग आये थे, उसी से लौट पड़ा।

रमा का हृदय तेज़ी से धक्-धक् कर रहा था। उसका शरीर बेंत की तरह काँप रहा था। आँखों से आँसुओं की अजस्र धारा बहने लगी थी। इस समय उससे कुछ भी कहना उचित न समझ, मैंने जेब से रुमाल निकाल कर उसके आँसू पोंछे और कहा—"चलो, चलें; अँधेरा बढ़ता

जा रहा है।" रमा कुछ न बोली। ज़ोर से उसने एक सिसकी भरी, और सँभल कर चल पड़ी।

मेरा सिर भारी हो चला था, और पाँव उससे भी भारी। समझ में नहीं आ रहा था कि किससे क्या कहूँ। सोचा था, दार्जिलिंग में गिरीन के साथ सैर-सपाटे में मज़े से वक़्त कट जायगा और रमा का स्वास्थ्य भी कुछ सुधर जायगा; पर यह तो पहले ही ग्रास में मक्षिका-पात हो गया!

– २ –

कमरे में पहुँच कर रमा ने बैग मेज़ पर पटक दिया और पलँग पर औंधे मुँह गिर, तकिये में मुँह छिपा, फफक-फफक कर रोने लगी। एक क्षण मैं चुपचाप खड़ा उसे देखता रहा, फिर गिरीन के कमरे की ओर चल दिया। गिरीन एक बड़े शीशे के सामने खड़ा चोटवाले स्थान पर कोई दवा लगा रहा था। पास जाकर मैंने पूछा—"क्या चोट ज़्यादा आई है, गिरीन?"

सहज भाव से मुस्करा कर गिरीन ने मेरी ओर देखा, और ऐसे कहा मानो कुछ हुआ ही न हो—"अरे, नहीं, भाई! ज़रा-सा शीशा चुभ गया है। कोई ख़ास बात नहीं। तुम बिलकुल फ़िक्र मत करो। हाँ, बताओ, खाना कब खाओगे?"

"खाना-वाना जाय भाड़ में!" आवेश से मैंने कहा—"आज की घटना के लिए मैं बहुत लज्जित और दुःखित हूँ, गिरीन! तुम कुछ ख़याल न करना। मुझे माफ़ कर दो! बोलो, माफ़ किया न मुझे?"

"अरे-अरे, यह तुम क्या नाटक-सा करने लगे! भला ऐसी भी क्या बात है, जो इतनी लम्बी माफ़ी चाही जा रही है? माफ़ी की ऐसी बात ही क्या है?"

"मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी, गिरीन! मैं जानता हूँ, तुम बुरा

नहीं मानोगे ! पर सच मानो, रमा के आज के व्यवहार से तुम्हारे चेहरे से अधिक मेरे दिल को चोट लगी है। इस धृष्टता के लिए मैं उसे कभी क्षमा नहीं कर सकता। पर तुम एक बार अपने मुँह से यदि कह दो कि मुझे क्षमा किया, तो मुझे ज़रा तसल्ली हो जाय।"

सहसा गिरीन गम्भीर हो गया। बोला—"तुम्हें तसल्ली हो सकती है, राजीव, पर मुझे कदापि नहीं होगी !"

"नहीं होगी ! क्यों ?"

"मुँह से क्षमा करके भी मैं मन से तुम्हें क्षमा नहीं कर सकता ! चाहने पर भी शायद मैं ऐसा न कर सकूँ !"

"तो गोया तुम मुझे क्षमा नहीं करोगे ?"

"नहीं !"

"इसका कारण ?"

"वही बतलाने को तो मैंने अनुरोध करके तुम्हें रमा के साथ यहाँ बुलाया है। पर मै इतनी जल्दी उस बात को नही छेड़ना चाहता था। किन्तु न-जाने क्यों मैं अपने मन के गुबारको दबा न सका, और तुम्हें ख़न्दक में ढकेलने की बात कह ही बैठा। इसी से रमा उत्तेजित हो गई। आखिर वह मुझसे प्रेम जो करती है; फिर भला वह मारती क्यों नहीं ?"

"यह तुम क्या कह रहे हो, गिरीन ?"

"ठीक ही तो कह रहा हूँ, राजीव ! यदि रमा अचानक मेरे साथ विश्वासघात न कर बैठती, तो शायद तुम मेरे और उसके बीच आज के रूप में कदाचित् नहीं होते। आज वह तुम्हारी पत्नी नहीं, भाभी होती।"

"तो क्या वह तुम्हें कभी..."

"हाँ, बचपन से ही हम दोनों एक-दूसरे से प्रेम करते रहे हैं। उसने मेरे अबोध और अपरिपक्व हृदय में प्रेम का अंकुर उगाया, और उसे अपने नेह-मनुहार से पाल-पोस कर बड़ा किया। अब वही उसे पल्लवित-पुष्पित कर सकती है, या उसके साथ ही मुझे भी सदा के लिए सुखा सकती है।"

"पर गिरीन, तुम्हें भूलना नहीं चाहिए कि अब वह मेरी विवाहिता पत्नी है।"

"यह मैं जानता हूँ। पर विवाह की थोथी रस्म से अधिक मेरा तुम्हारे विवेक पर भरोसा है! ज़रा दिल पर हाथ रख कर सोचो, भैया, क्या नस्ल बढ़ाने के लिए नर और मादा पशुओं को मिला देने से मनुष्यों की इस विवाह-प्रथा में कोई ख़ास भेद है? रमा के शरीर पर विवाह की रस्म ने तुम्हें ज़रूर अधिकार दे दिया है, पर क्या तुम उसके मन पर भी अधिकार पा सकोगे? यदि पा सको, तो मेरी शुभ कामनाएँ तुम दोनों के साथ हैं! नहीं तो तुम्ही सोचो, क्या सही माने में वह तुम्हारी पत्नी बन सकती है?"

"पर अब भी रमा के दिल में तुम्हारे प्रति वही प्रेम है, यह तुम कैसे कह सकते हो?"

"जब तक वह अपने मुँह से अन्यथा न कहे, मैं उसकी बातों पर अवश्य विश्वास करूँगा।"

"उसकी बातों पर?"

"हाँ, ज़बानी नही, उसके हाथ की लिखी हुई बातों पर। वह सामने मेज़ पर जो अटैची-केस पड़ा है, उसमें केवल रमा के हाथ के लिखे पत्र हैं। अपने प्रश्न का उत्तर पाने के लिए तुम्हें उनमें से कोई भी एक पत्र पढ़ देखना काफ़ी होगा। उसका अन्तिम पत्र तुम्हारे साथ विवाह हो चुकने के एक मास बाद का लिखा हुआ है, जिसमें उसने स्पष्ट लिखा है कि यद्यपि ख़ानदान की इज़्ज़त बचाने और बूढ़े माँ-बाप का दिल न दुखाने के ख़याल से उसने तुमसे विवाह किया है, पर उसके दिल और स्वप्नों का राजा सदा मैं ही रहूँगा!"

मेरी आँखों के सामने सहसा अँधेरा-सा छा गया। दिल बैठने-सा लगा, और मुँह सूख गया। यंत्रवत् मेरी आँखें मेज़ पर रखे हुए चमड़े के अटैची-केस की ओर घूमीं। पर उधर बढ़ने का साहस जैसे न तो मेरे पाँवों में था

श्रौर न हाथों में ही। मुझे ऐसा लगा, मानो तूफ़ान के भँवर में पड़ कर वह अटैची-केस सहसा खुल गया है श्रौर उसमें के पत्र पतझड़ के सूखे पत्तों की तरह चारों ओर बिखर कर उड़ने लगे हैं ! पर नहीं, यह तो कल्पना का एक झोंका मात्र था। पत्रों-सहित अटैची-केस ज्यों-का-त्यों मेज़ पर एक बड़े मोटे प्रश्नसूचक चिह्न की भाँति पड़ा मानो मेरी ओर घूर रहा था। मैं इस स्थिति से अपने-आपको उबारने का कोई उपाय सोचूँ, इससे पहले ही देखता क्या हूँ कि पीछे से बिजली की-सी तेज़ी से रमा मेज़ की ओर झपटी, श्रौर अटैची-केस उठा कर मय उसके भीतर के पत्रों के दीवार के सहारे जलनेवाली अँगीठी में फेंक दिया। वह बेंत की तरह काँप रही थी। डबडबाई आँखों से एक क्रोधपूर्ण दृष्टि उसने मेरी श्रौर गिरीन की ओर डाली श्रौर रुँआसी आवाज़ में कड़क कर कहा—"क्या इस तरह मेरा अपमान करने के लिए ही आपने मुझे यहाँ बुलाया है, गिरीन वाबू ?"

"हर्गिज़ नहीं, रमादेवी !" जलते हुए अटैची-केस से नज़र हटा कर रमा की ओर देखते हुए सहज भाव से गिरीन ने कहा—"अपमान या विश्वासघात की बात तो तब होती, जब मैं आपकी चिट्ठियाँ किसी बाहरी आदमी को दिखाता ! राजीव आपके पति श्रौर मेरे अनन्य सखा हैं। इनसे तो हम दोनों को कोई दुराव नहीं रखना चाहिए ! यदि इसमें मेरी कोई ग़लती हो, तो आप...."

अभी गिरीन न-जाने क्या-क्या श्रौर कहता, पर रमा जिस तेज़ी से कमरे में आई थी उसी तेज़ी से सिसकती हुई वहाँ से चली भी गई। अतएव वह सहसा चुप हो गया। मैंने जलते हुए अटैची-केस की ओर क़दम बढ़ाया ही था कि गिरीन ने मेरा रास्ता रोक लिया, श्रौर मुस्करा कर बोला—"नहीं, जनाब, अब उसे उठाने की कोशिश न कीजिए ! आख़िर उसका होगा भी क्या ? अदालत में तो जाना नहीं है कि सबूत की ज़रूरत पड़े ! जब तक वह रहेगा, मानो रमा के सिर पर नंगी तलवार लटकती रहेगी !"

यह कह कर उसने एक क़हक़हा लगाया, और मेरे गले में हाथ डाल कर "चलो खाना खा लें !" कहता हुआ मुझे लिए रसोई-घर की ओर चल पड़ा। बिना कुछ कहे-सुने यंत्रवत् मैं उसके साथ-साथ चल पड़ा।

खाना खाते समय मेरे हाथ-मुँह यद्यपि अपना काम किये जा रहे थे, पर मुझे नहीं मालूम कि मैं क्या और कितना खा गया। आँखें और कान खुले थे। मैं जब-तब गिरीन की ओर देख लेता था; पर वह क्या-क्या कह रहा था, यह मुझे तनिक भी मालूम नहीं हो रहा था। मैं मानो किसी और ही लोक में विचरण कर रहा था। मेरे सामने बार-बार रमा का सुहाग-रात के दिन का चेहरा घूम जाता था। वह सुशिक्षिता, सुन्दरी, सौम्य एवं सरल थी। पर जब मैंने उसके चिबुक को धीरे-से ऊपर उठाया, तो देखा कि भय-विह्वल हरिणी की-सी उसकी सुडौल आँखें मानो आँसुओं के जल में डूब जाने का विफल प्रयास कर रही थीं ! उसका सुन्दर और स्वस्थ मुखड़ा उदासी से विवर्ण हो चला था, मानो उसके हृदय को कोई गहरा आघात लगा हो। उसके शरीर पर वस्त्र और आभूषण ऐसे लग रहे थे, मानो उसके नारीत्व को उत्तेजक बनाने के लिए जबरन थोपे गये हों ! लगभग वही हाल मेरा भी था। मैं भी मानो समाज और क़ानून-द्वारा उसकी शोभा बढ़ाने तथा उसके नारीत्व को पूर्णता देने के लिए उस पर जबरन थोपा गया था ! फिर मैंने देखा, निरन्तर विफलताओं का सामना करनेवाला आदमी जिस तरह एक दिन थक कर अपने-आपको परिस्थितियों की भूख को सौंप देता है, उसी तरह रमा ने भी मुझे आत्म-समर्पण कर दिया। कितना बुद्धू था मैं, जो विवशता के उस मूक बलिदान को प्रेम और हृदय का समर्पण समझा ! पहले तो मैंने समझा कि माँ-बाप और परिजनों की जुदाई ही रमा के रोने और उसकी अन्यमनस्कता का कारण है; पर जब वह लगातार कई दिन तक रात-रात-भर सिसकती रही और दिन-दिन उदास, अस्वस्थ और भयभीत-सी रहने लगी, तो मुझे कुछ अटपटापन ज़रूर

मालूम हुग्रा । पर मैंने उसे रमा के मन ग्रौर शरीर की दुर्बलता से ग्रधिक ग्रौर कुछ नहीं समझा । माँ ने जब कहा—"बेटा, बहू जब से ग्राई है, तभी से बीमार रहती है । किसी डाक्टर को तो दिखाग्रो !" तो मैंने उसे ग्रच्छे-से-ग्रच्छे डाक्टरों को दिखाया, पहाड़ी स्थानों पर भी ले गया; पर कोई ख़ास लाभ नहीं हुग्रा । होता भी कैसे ? जहाँ नारी केवल ग्रपने माँ-बाप का मन रखने, ख़ानदान की इज़्ज़त बचाने ग्रौर समाज के ढोंग की रक्षा करने के लिए ग्रपने तन-मन का बलिदान करती है, वहाँ सुख ग्रौर सन्तोष कहाँ से ग्राएँ ? ग्रभिभावकों, डाक्टरों या बननेवाले पतियों की ग्राँखें भला इस रहस्य को कैसे समझ सकती हैं ? उसे समझने की बुद्धि ग्रौर ग्राँखें क्या उन्होंने पाई हैं ?

सहसा मेरा कन्धा झकझोर कर जब गिरीन ने कहा,—"उठोगे भी, या ग्राज सारा ग्राटा ख़त्म करके ही उठने का विचार है !" तो मानो मै किसी गहरी नींद से जाग पड़ा । देखा, रसोइया ग्राश्चर्य से ग्राँखें फाड़ कर मेरी ग्रोर देख रहा है । जान पड़ा, मै काफ़ी ज़्यादा खा गया उस दिन । पर यहाँ होश ही किसे था ? हाथ धो कर हम लोग उठ खड़े हुए ।

— ३ —

किताब पढ़ते-पढ़ते जब मैं काफ़ी थक-सा गया ग्रौर नींद ग्राने लगी, तो मैंने उसे बन्द कर तकिये के नीचे रख लिया । मैंने ज्योंही सिरहाने की मेज़ पर रखा टेबिल-लैम्प बुझाने को हाथ बढ़ाया, तो देखता क्या हूँ कि रमा का खाना थाली में परोसा हुग्रा ज्यों-का-त्यों कपड़े से ढँका रक्खा है । रमा की पीठ मेरी ग्रोर थी, पर वह ग्रभी तक सोई नहीं थी, क्योंकि उसके सुबुकने की ग्रावाज़ बराबर ग्रा रही थी । कन्धा पकड़ कर उसे ग्रपनी ग्रोर खींचते हुए मैंने कहा—"तुमने ग्रभी तक खाना नहीं खाया ! यह कैसी बेवक़ूफ़ी है ? खाने से ग्राख़िर क्या दुश्मनी ? जो-कुछ होना है, वह तो होकर ही रहेगा ।"

एक क्षण डबडबाई आँखों से रमा ने मेरी ओर देखा, मानो उसे कोई नया आघात लगा हो, और फिर काँपते हुए होंठों से कहा—"तो क्या अब भी कुछ कसर रह गई है होने में? तुम दोनों मिल कर क्या मुझे खा जाना चाहते हो?"

मेरे मुँह से निकल गया—"अगर सच पूछती हो, तो हाँ! मगर रमादेवी, अभी तक आदमी ने औरतों को खाना नहीं सीखा है! इसलिए आप निश्चिन्त होकर खाना खा सकती हैं! और बातें सुबह होंगी।"

मेरे इस मज़ाक़ को रमा ने क्या समझा, पता नहीं; पर आज वह हँसी नहीं। उसकी आँखें और भी भर आईं, और वह फिर करवट ले कर सिसकने लगी। मै कुछ निश्चित नहीं कर पाया कि क्या करूँ। आखिर लैम्प बुझा कर मैं सोने का उपक्रम करने लगा।

पर कुछ क्षण इधर-उधर करवट बदलने के बावजूद मुझे नींद नहीं आई। रमा का सिसकना बराबर जारी था। मेरी नींद भी मानो उसी की नींद के साथ उड़ गई थी। रह-रह कर मेरे सामने प्रश्नसूचक चिह्न बने तीन चेहरे आने लगे—मेरा, रमा का और गिरीन का। तीनों ही मानो अपने भविष्य का उत्तर चाह रहे थे। मेरा चेहरा हक्का-बक्का-सा था। रमा का चेहरा मानो आँसुओं के तालाब में डूब-उतरा रहा था। और गिरीन का चेहरा मानो व्यंग्य से खिलखिला कर कह रहा था—'तुमने मेरे मुंह का कौर छीना है, राजीव! पर याद रक्खो, बिना हृदय की नारी पा कर तुम भी कभी सुखी नहीं हो सकोगे! रमा हृदय से मेरी है, शरीर से भले ही वह तुम्हारी हो!' फिर सहसा गम्भीर होकर मानो वह व्यंग्य-बाण छोड़ने लगा—'पर, हो सकता है, रमा को एक पुरुष चाहिए था। मैं न सही, तुम्हीं सही! तुम्हें एक नारी चाहिए थी। और कोई न सही, रमा ही सही। किन्तु मैं क्या करूँ? मेरा क्या होगा? रमा के बिना मेरा जीवन तो व्यर्थ ही जायगा। शायद मैं जी भी न सकूँ। किन्तु तुम्हें इससे क्या? दुनिया को इससे क्या?

हः-हः-हः-हः !' एक डरावनी-सी कँपकँपी मेरे शरीर में दौड़ गई। मैं पसीने-पसीने हो गया।

सहसा मैं उठ बैठा, और लैम्प जला लिया। पर इस बार यह देख कर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि रमा बिस्तर पर नहीं थी। एक-साथ कई आशंकाएँ मेरे मस्तिष्क में बिजली की तरह कौंध गईं। दूसरे ही क्षण दौड़ कर मैं गिरीन के कमरे में पहुँचा। बत्ती जला कर देखा, वह रज़ाई में लिपटा आराम से सो रहा था। मैंने उसकी मेज़ पर रखा टॉर्च उठा लिया, और बत्ती गुल कर धीरे से उसके कमरे के किवाड़ उढ़का कर बाहर चला आया। टॉर्च जला कर मैंने इधर-उधर देखना शुरू किया। चोर की तरह दबे-पाँव मैं आगे बढ़ रहा था। कुछ क़दम चलने के बाद दिखाई पड़ा, मानो कोई शराबी लड़खड़ाता-सा जा रहा है। चाल ज़रा तेज़ कर उसके पास जा पहुँचा। यह और कोई नहीं, रमा ही थी। कपड़े उसके अस्त-व्यस्त हो रहे थे, और बाल इधर-उधर बिखर रहे थे। वह बुरी तरह काँप रही थी, पता नहीं भय से या शीत से। मैंने लपक कर दृढ़ता से उसका हाथ पकड़ लिया, और टॉर्च की रोशनी चेहरे पर डालते हुए बोला—"रमा, पागल हो गई हो ? आखिर यह क्या हो गया है तुम्हें ? इतनी रात को अकेली कहाँ जा रही हो ?"

रमा ने अपना हाथ छुड़ाने की कोशिश नहीं की। उसकी वाणी मानो मूक हो गई थी। मेरे कन्धे पर सिर रख कर वह ज़ोर-ज़ोर से सिसकियां भरने लगी। मैं भी कुछ बोल नहीं सका। रमा को ले कर लौट पड़ा।

देखा, सामने लालटेन लिये गिरीन चला आ रहा है। पास आकर उसने अपने कन्धे पर रखा ओवरकोट मुझे दिया, और शाल रमा की ओर बढ़ाते हुए बोला—"इस तरह हठात् बाधा देने के लिए मुझे क्षमा करना, राजीव ! पर मैंने सोचा कि आधी रात को होनेवाले इस सामाजिक नाटक के नायक-नायिका कहीं ठिठुर न जायँ ! इसीलिए ये

ले आया !" रमा ने उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया, पर मैं अपनी हँसी न रोक सका। न-जाने कितने वर्षों से गिरीन मेरा सुहृद है, परन्तु आज तक भी मैं उसे ठीक-ठीक समझ नहीं पाया हूँ। उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का अधिकार भी जैसे मैं खो चुका हूँ। कभी वह निरा बच्चा बन जाता है, और कभी एकदम बुजुर्ग।

लौट कर मैंने रमा को उसके पलँग पर लिटा दिया, और गिरीन के साथ उसके कमरे नें चला गया। दोनों हाथ ओवरकोट की जेब में डाल कर एक अजीब अदा से गिरीन ने पूछा—"जानते हो, राजीव, अभी रमा कहाँ जा रही थी?"

"नहीं; क्या कोई खास बात थी?"

"हाँ; वह आत्म-हत्या करने जा रही थी।"

"हैं! क्या कहा, आत्म-हत्या?"

"जी हाँ; कायरों का यही तो अन्तिम आश्रय है!"

"यह भला कैसे हो सकता है?"

"तो इसे पढ़ देखो!" कह कर उसने जेब में से एक पत्र निकाल कर मेरी ओर बढ़ा दिया।

पत्र इस प्रकार था—'राजीव बाबू, गिरीन बाबू ने जो-कुछ कहा था, वह सच है। अपनी भूल और विश्वासघात के लिए मैं इतनी लज्जित और दुःखित हूँ कि अपना यह काला मुँह आप दोनों को और नहीं दिखाना चाहती। जीवन मेरे लिए असम्भव है। अतएव इसका अन्त करना ही श्रेयस्कर जान पड़ता है। मैं सदा के लिए आप दोनों से विदा ले रही हूँ। आशा है, आप लोग मुझे क्षमा करेंगे और बिलकुल भूल जायँगे।

—अपराधिनी, रमा।'

पत्र समाप्त करते-करते मेरी आँखें भर आईं। हायरी भारतीय नारी! तेरी दुर्बलता, मानसिक गुलामी और कायरता का भी कभी अन्त होगा? गिरीन ने पत्र मेरे हाथ से ले लिया, और फाड़ कर एक ओर फेंकते

हुए बोला—"देखा, पढ़ी-लिखी लड़कियाँ क्या कर सकती हैं ? जान पड़ता है, रमा ने आत्म-हत्या का यह सस्ता नुस्खा किसी बेहूदा प्रेम-कहानी या भोंडे उपन्यास से लिया है। छिः ! कितनी बुद्धिहीनता है इन औरतों में !"

मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था कि क्या करूँ ? सारी स्थिति इतनी पेचीदा हो चली थी कि हम तीनों के ही प्राण संकट में पड़ गये थे। गिरीन की बात इतनी सत्य निकलेगी, इसका मुझे आसानी से विश्वास नहीं हो रहा था। पर रमा के इस पत्र ने तो मेरी रही-सही आशंका भी दूर कर दी थी। एक तरह से तो हम तीनों का ही रास्ता साफ़ हो गया था। पर क्या हम तीनों में इतना विवेक और नैतिक साहस था कि हम आत्म-हत्या करने या जीवन-भर तड़पने के बजाय इसका कोई व्यावहारिक, उपयोगी एवं बुद्धि-संगत हल खोज निकालते ? सब से पहले मैंने अपना हृदय टटोला। असमंजस और आशंका से पिण्ड छुड़ाता हुआ मेरा विवेक सहसा ऊपर उठ आया। सारे शरीर में मानो एक बिजली की धारा-सी दौड़ने लगी। मैंने गिरीन का हाथ पकड़ा, और उसे रमा के कमरे की ओर खींचता हुआ ले चला।

रमा अभी भी तकिये में मुँह छिपाये अपनी सिसकियों में उलझी पड़ी थी। बिना कुछ कहे मैंने हाथ पकड़ कर उसे बिठा दिया, और उसका बायाँ हाथ गिरीन के दाहिने हाथ में दे कर कहा—"आज से तुम दोनों पति-पत्नी हुए ! मेरी राय में तुम दोनों के प्रेम का यही आग्रह है। लोग क्या कहेंगे, इसकी परवाह हमें नहीं करनी चाहिए। समाज के मूल्यों और मापदण्डों का मेरी निगाह में लड़के-लड़कियों की दलाली करनेवाले टका-पन्थियों की ख़ुराफ़ात से अधिक कोई महत्त्व नहीं है।"

गिरीन और रमा दोनों हक्के-बक्के हो मेरे मुँह की ओर देख रहे थे। पर इस ओर कोई ध्यान न दे, रमा को सम्बोधित करके मैंने कहा—"रमादेवी, क्या आपके माँ-बाप ने हज़ारों रुपये खर्च करके आपको इस-

लिए पाला-पोसा और पढ़ाया कि आप प्रेम का असफल अभिनय करके एक दिन आत्म-हत्या कर लें ? यदि दुर्भाग्यवश आप ऐसा कर लेतीं, तो स्त्री-शिक्षा और नारी-जाति की स्वाधीनता के विरोधियों को बड़ा बल मिलता। हम लोगों का अविचार भी कितना बढ़ गया है कि जीवन की समस्याओं को हल करने के बजाय हम अपना जीवन ही समाप्त कर लेते हैं ! इसमें भला कौन-सी अक़्लमन्दी है ? जीवित रह कर आप दोनों देश और समाज के लिए जो-कुछ कर सकते हैं, भविष्य की आशा उसी पर है। मेरी शुभकामनाएँ और आशीर्वाद आप दोनों के साथ हैं। आप दोनों सुखी हों, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है।"

गिरीन की ओर देख कर मैंने कहा—"मैं तुम्हारे कमरे में सोने जा रहा हूँ, गिरीन। देखना, ख़बरदार अगर और कोई शरारत की तो !" और तेज़ी से क़दम बढ़ाता हुआ मैं उसके कमरे की ओर चल दिया।

दो बहनें

हाथ में एक खुला लिफ़ाफ़ा और टाइप किया एक काग़ज़ लिये बाबू आनन्दकुमार ने रसोईघर में प्रवेश किया और बिछे हुए आसन पर बैठ कर उसे फिर पढ़ने लगे। मालती ने थाली परोस कर उनके आगे रखते हुए कहा—"किसकी चिट्ठी है, भैया? बहुत ज़रूरी है क्या?"

"ख़ाक ज़रूरी है"—चिट्ठी और लिफ़ाफ़े को बाईं ओर डाल कर आनन्दकुमार ने खाना शुरू करते हुए कहा—"साठ रुपल्ली के मामूली-से मास्टर और दिमाग़ लाट साहब से भी बढ़ कर! आजकल के इन नई रोशनी के नौजवानों से तो ख़ुदा ही बचाये। शादी की बात-चीत क्या करते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय-समझौतों से भी ज़्यादा कूट-नीति और सोच-विचार से काम लेते हैं। गोया शादी क्या हुई, एक आफ़त हो गई।"

मालती समझ गई कि उसकी शादी के लिए जो बात चीत हो रही है, उसी सिलसिले में कोई पत्र आया है। अपनी शादी के सम्बन्ध में वह अपने ही बड़े भाई से भला किस प्रकार पूछ-ताछ कर सकती थी? इसीलिए अपनी सारी उत्सुकता को बरबस दबा कर वह आँखें नीची कर चुप हो रही। शील और सङ्कोच ने उसकी आँखों को तो झुका दिया, पर उसके हृदय में बिगड़े हुए साँप की तरह विद्रोह करनेवाली उत्सुकता पर क़ाबू पाना उसके लिए आसान नहीं था। रह-रह कर उसका मन होता था कि एक ही साँस में, एक ही नज़र में, चिट्ठी की सारी बातें अपने दिल में उतार ले। पर बड़े भाई के आगे, उनकी नज़र के सामने, वह यह सब क्योंकर करेगी? उसने तो बचपन से आर्य-नारी बनने के आदर्शों की शिक्षा पाई थी। भला ऐसी बेशर्मी वह कैसे कर सकती थी?

हाँ, एक बार, न-मालूम कैसे, उसने कनखियों से अपने भाई की

दृष्टि बचाते, चोरी से, एक नज़र तिरछे पड़े हुए पत्र पर ज़रूर डाली थी। एक क्षण को जैसे उसकी अबोध और अनजानी दृष्टि टाइप किये हुए उन अक्षरों में उलझी भी—स्वतः या बरबस, वह नहीं जानती। पर दूसरे ही क्षण जैसे उसने अपनी दृष्टि को बन्दिनी बनाने की अनधिकार चेष्टा करनेवाले टाइप के उन अक्षरों को पीछे ढकेल कर अपना पिण्ड छुड़ाते हुए भाग कर फिर अपनी पुरानी जगह ले ली। उसकी दृष्टि फिर अपने पाँव के अँगूठे के नाखून पर आ लगी—जैसे इधर-उधर की निर्लज्जता और उच्छृङ्खलता की प्राचीर में शील और मर्यादा का आश्रय-स्थल एकमात्र वही हो। एक हल्की-सी सिहरन उसके दोहरे हो रहे शरीर में दौड़ गई और वह जैसे बड़े भाई के आगे अपने-आपको अपराधिनी-सी महसूस करने लगी। वैसे तो पिछले दो-ढाई साल से—जब से कि नाते-रिश्ते और पास-पड़ोस के लोगों ने उसे 'विवाह-योग्य' और 'सयानी' होने का फ़तवा दिया है—वह आँख मिला कर आनन्दकुमार से बहुत कम बात करती है। उनसे हँसी-मसख़री करना तो जैसे वह भूल ही गई है। जब से उसे उन्नीसवाँ साल लगा है—और ख़ास कर पिछले एक महीने से, जब से उसकी शादी की बात-चीत चली है—तब से तो वह आनन्दकुमार से और भी कम बोलने लगी है। उनसे सम्बन्ध रखने-वाली अधिकांश बातें वह अपनी छोटी बहन शकुन्तला की मार्फ़त ही कहलाती या पुछवाती है। पहले वे तीनों आपस में ख़ूब मार-पीट और धमा-चौकड़ी किया करते थे। माँ की मृत्यु के बाद पिता ने थोड़ा-सा नियन्त्रण कड़ा किया और खेल-कूद तथा पढ़ाई व अन्यान्य कामों का समय बाँट दिया। पर पिता की मृत्यु के बाद तो पिछले एक साल से जैसे आनन्दकुमार का स्थान बाहर की बैठक और मालती तथा शकुन्तला का सहन के इधर का भीतरी हिस्सा अपने-आप निश्चित हो गया। शकुन्तला ने कभी अपने-आप उठ खड़ी हुई इस अवाञ्छनीय हदबन्दी को स्वीकार नहीं किया—शायद वह इसे महसूस भी नहीं कर सकी और

उसका भीतर के बड़े कमरे—जिसे मालती ने अपने रहने के लिए चुना था—से लेकर बाहर की बैठक तक आना-जाना अबाध और अनियंत्रित गति से जारी रहा। पर शील, सङ्कोच, मर्यादा और तितिक्षा की मूर्त्ति मालती को कभी भी इसके उल्लङ्घन का साहस नहीं हुआ। सो वह पीछे ही रह गई और शकुन्तला पूर्ववत् आनन्दकुमार से हँसती-बतलाती रही। अब तक मालती समझ रही थी कि वह आनन्दकुमार की सगी बहन तो ज़रूर है; पर अब उन दोनों के बीच में एक सहन और बैठक की एक दीवार भी आ खड़ी हुई है। उन दोनों के बीच में अब कुछ अलगाव-सा आ गया है। किन्तु आज तो मालती को ऐसा महसूस होने लगा कि यह अलगाव सहन की चौड़ाई और बैठक की दीवार की मोटाई से भी आगे बढ़ गया है। अब वह जैसे फैलता-सा जा रहा है और शायद फैलता ही जायगा—मालती अब उसके विस्तार को रोक कैसे सकेगी? अब तो बात उसके क़ाबू से बाहर की हो चली है। वह शकुन्तला नहीं बन सकेगी—कभी बनी भी नहीं। वह तो बचपन से मालती ही रही है, जो बिना काम या प्रयोजन के किसी से बोलना-बतलाना जानती ही नहीं।

सहसा थाली में पानी गिरने का शब्द सुन कर मालती की अन्यमनस्कता भंग हुई। उसने आँखें उठाईं, तो देखा कि आनन्दकुमार थाली में हाथ धो रहे हैं। आज उसने उनसे दुबारा कुछ भी लेने को नहीं पूछा था, यह सोच कर उसे अपने-आप पर बड़ी झुँझलाहट हुई। दबी हुई आवाज़ में उसने कहा—"यह क्या, आपने तो आज कुछ भी नहीं खाया! मैं तो और कुछ लेने के लिए पूछना ही भूल गई थी। एक रोटी तो और...."

"नहीं बहन, अब नहीं। आज इतनी ही भूख थी। सुबह नाश्ता क्या कम किया था?"—कहते हुए आनन्दकुमार उठ खड़े हुए।

उनके उठते-उठते मालती ने एक नज़र उनके चेहरे पर डाली, तो उसे ऐसा जान पड़ा कि आज अनन्दकुमार खुश नहीं हैं। सुबह के नाश्ते

ग्रौर भूख कम होने की बात का वज़न बढ़ाने के लिए उन्होंने मुस्कराने की चेष्टा ज़रूर की थी; पर वह १०० फ़ीसदी विफल रही, इसे मालती ने भली-भाँति भाँप लिया था। ग्रौर यह भी उसने देखा कि इस विफल मुस्कराहट का फीकापन उनके चेहरे पर स्पष्ट झलकनेवाले विषाद को ग्रौर गहरा बना गया है।

मालती उठी नहीं। वहीं-की-वहीं बैठी रही—ज्यों-की-त्यों। उसे नहीं मालूम कि कब ग्रानन्दकुमार दफ़्तर चले गये ग्रौर उसे वहाँ बैठे-बैठे कितनी देर हो गई! जब १२॥ या १ बजे के लगभग महरी ने ग्रा कर पूछा कि ग्रभी चौका खाली नहीं हुग्रा क्या, तब उसे जैसे सहसा ग्रपना ग्रौर समय का भान हुग्रा। वह उठी ग्रौर टाइप की हुई चिट्ठी को पहले की तरह मोड़ कर लिफ़ाफ़े में रख साथ लेती हुई ग्रपने कमरे में चली गई।

– २ –

स्कूल से लौट कर शकुन्तला ने ग्रपनी कापियाँ ग्रौर किताबें मेज़ पर फेंकी ग्रौर

....

मेरे भैया के राज में!

मेरी भाभी के राज में!

नहीं नहीं,

मेरी जीजी के राज में!

गाते हुए मालती के कमरे की ग्रोर बढ़ी। दरवाज़े पर पाँव रखते ही उसने देखा, रोज़ की तरह ग्राज मालती पढ़ नहीं रही है। वह कुर्सी पर कुछ ग्रनमनी-सी बैठी है। उसके इस तरह बैठने के कारण की तलाश करने की फ़ुर्सत शकुन्तला को इस समय नहीं थी। दौड़ कर वह मालती के गले से लिपट गई ग्रौर फिर गाने लगी—

एक सुख पाया मैंने,
जीजी के राज में।
हाँ, जीजी के राज में।

शकुन्तला की कोमल बाहों में अपनी गर्दन और उसके सरल स्नेह-सिक्त हृदय से सँटे हुए अपने बेसब्री से धड़कनेवाले दिल को पाकर जैसे मालती अपना मानस टटोलने लगी। आदि से अन्त तक क्यों वह एक पहेली ही बनी रही है—और शायद आगे भी पहेली ही बनी रहेगी! वह शकुन्तला क्यों नहीं बन जाती! नहीं, वह वैसी बन ही नहीं सकती। ओह!

अभी-अभी उसने चाहा कि वह भी शकुन्तला को अपने गाढ़ आलिङ्गन में कस ले, पर उसकी बाहों को जैसे पक्षाघात हो गया हो। वे शिथिल-की-शिथिल ही बनी रहीं। उसने चाहा कि शकुन्तला का मन रखने को—अपनी नहीं तो उसीकी खुशी के लिए ही—ज़रा हँस दे; पर आज वह ऐसा भी नहीं कर पा रही थी। उसे ऐसा लग रहा था, मानो उसके अन्तस् के विषाद और कृत्रिम मुस्कराहट लाने के भाव में आज होड़ लगी हो। मन का भाव कह रहा था कि एक क्षण की भी मोहलत मिले, तो वह उसके अधर पर नाच कर नष्ट हो जायगा या लौट आयगा। पर विषाद जैसे कह रहा था कि तू पहले मुझे ही एक क्षण आँखों में जा कर चमकने क्यों नहीं देता? एक को जाने देने में दूसरे के बरबस मचल पड़ने का सजीव ख़तरा था, इसलिए उसने दोनों को ही आधे रास्ते से जैसे वापस बुला लिया।

शकुन्तला एक हाथ मालती के गले में डाले रही और दूसरा मेज़ पर टिका कर उसकी गोद में बैठते हुए बोली—"आज गुमसुम क्यों बैठी हो, जीजी?"

"कुछ भी तो नहीं। कौन कहता है कि मैं गुमसुम हूँ!"—मालती बोली।

मेज़ पर रक्खा हुआ शीशा उठा कर शकुन्तला ने मालती के सामने करते हुए कहा—"यह कहता है, और कौन ?"

एक फीकी-सी मुस्कराहट और बनावटी झुँझलाहट के साथ मालती ने शकुन्तला के हाथ से शीशा ले कर मेज़ पर रखते हुए कहा—"तू तो निरी बच्ची ही रहेगी, शकुन्त। अरे, १६ साल की होने आई और अपनी बड़ी बहन से भी हँसी-मसखरी करती है ! गम्भीरता और अनुशासन का भाव न-जाने तुझमें कब पैदा होगा ?"

"देखो, अभी होता है"—कह कर शकुन्तला मालती की गोद से उतर कर उसके सामने खड़ी हो गई और उसके पाँव छू तथा हाथ जोड़ कर बोली—"मेरी परम श्रद्धास्पद आदरणीया बड़ी बहन जी, सादर नमस्ते ! आज आपका मुख-कमल कुछ मुर्झाया-सा क्यों देख पड़ता है ?"—और वह खिलखिला कर हँस पड़ी। उसके साथ मालती भी हँस पड़ी।

इसी समय शकुन्तला की नज़र मेज़ पर पड़े हुए लिफ़ाफ़े पर पड़ी। "यह किसकी चिट्ठी है ?" कहते हुए उसने उसे उठा लिया। मालती कुछ कहे, इससे पहले ही शकुन्तला ने लिफ़ाफ़े में से चिट्ठी निकाल कर पढ़ना शुरू कर दिया। मालती चुप-की-चुप ही रही। पर जैसे उसका कलेजा बैठा जा रहा था। न-जाने क्यों वह....।

चिट्ठी और लिफ़ाफ़ा मेज़ पर पटकते हुए शकुन्तला ने मुँह बिचका कर कहा—"डैम स्वाइन (पाजी सूअर) !" और दरवाज़े की तरफ़ मुड़ी तो देखा कि बाबू आनन्दकुमार खड़े हुए मुस्करा रहे हैं। वे बोले—"शकुन्त ! आज यह आशीर्वाद किसे दिया जा रहा है ?"

"ओह, आप हैं ! भाई साहब, आप बड़े अच्छे मौक़े पर आये। ज़रा यहाँ आकर तो बैठिए, कुछ ज़रूरी बातें करनी हैं। कुर्सी लीजिए।" —शकुन्तला बोली

कमरे में आते हुए आनन्दकुमार ने कहा—"कहो, क्या बात है ? अब तो घर में बड़ी-बूढ़ी तुम्हीं रह गई हो न, शकुन्त !"

"आप इधर बैठिए !"—कहते हुए अपनी कुर्सी छोड़ कर दरवाज़े की ओर बढ़ते हुए मालती ने कहा—"मैं तब तक चाय तैयार करती हूँ।"

"क्यों नहीं"—शकुन्तला ने कहा—"और जीजी, तुम भी तो बैठो। अरे वाह, यह क्या ? तुम कहाँ चलीं ?"

मालती कमरे से बाहर जा चुकी थी। रसोई-घर की ओर बढ़ते हुए बोली—"मैं कौन-सी दूर हूँ ! यह तुम लोगों के सामने बैठ कर ही तो चाय बना रही हूँ !"

शकुन्तला बोली—"भाई साहब, मेरी तो समझ में नहीं आया कि यह हम दोनों की फ़ोटो क्यों मँगवा रहे हैं ? शादी तो जीजी की तय करनी है न ? फिर इसका मतलब ?"

"तुझे क्या-क्या और कैसे बताऊँ, शकुन्त ?"—आनन्दकुमार बोले—"मैंने सब-कुछ खोल कर उन्हें लिख दिया था; पर उनकी समझ ही न-मालूम कैसी है ? उन्होंने पूछा था कि आप लोग कितने भाई-बहन हैं ? इसके जवाब में मैंने लिख दिया था कि हम तीन भाई-बहन है, तीनों ही कुँवारे हैं। एक बहन की उम्र १९ साल है और वह मैट्रिक पास कर चुकी है। दूसरी की उम्र १६ साल है, जो अब मैट्रिक में पढ़ती है। मैंने तो यहाँ तक लिख दिया था कि उन्हें अगर किसी तरह का शक-शुबहा हो, तो खुद आकर लड़की को देख सकते हैं। पर वे कहते हैं कि शायद फ़ोटो से ही मामला तय हो जाय, तो फिर आने-जाने का झंझट और फ़ज़ूल-खर्ची क्यों मोल ली जाय ? चलो यही सही।"

"तो जीजी का फ़ोटो उतरवा कर भेज दीजिए। देखें, क्या कहते हैं ?"

"अगर फ़ोटो ही भेजना है, तो दोनों का ही क्यों न भेजें, ताकि मामला और ज़्यादा दिन खटाई में न पड़ा रहे।"

"मैं तो फ़ोटो नहीं उतरवाऊँगी। मुझे क्या अभी शादी करानी है?"—शकुन्तला ने मुँह बना कर कहा।

"तुम अगर फ़ोटो न उतरवाओगी तो उन्हें क्या नुक़सान? उनके लिए लड़कियों की क्या कमी है? नुक़सान अगर कुछ है, तो मुझे ही। ऐसा करके तुम मेरी चिन्ताओं और जिम्मेदारियों को कम थोड़े ही कर दोगी, शकुन्त? आगे जैसी तुम्हारी मर्ज़ी!"

शकुन्तला चुप रही। कहना तो वह बहुत-कुछ चाह रही थी; पर यह सोच कर कि आनन्दकुमार की चिन्ताएँ और न बढ़ जायँ, उनके दिल को चोट न लगे, उसने जी कड़ा कर ज़बान को जैसे ताला लगा दिया। आज पहली बार उसके चेहरे पर उदासी झलकी। इसी समय मालती चाय ले आई और तीनों बैठ कर पीने लगे।

— ३ —

कितनी मुश्किल से बाबू आनन्दकुमार ने अपनी दोनों बहनों को फ़ोटो खिचवाने के लिए राज़ी किया, इसे वे ही जानते थे। शकुन्तला तो जैसे-तैसे समझाने-बुझाने से मान भी गई; पर मालती न मानी। उसने साफ़ कह दिया कि भले ही उसे ज़िन्दगी-भर अविवाहित क्यों न रहना पड़े; पर इस तरह फ़ोटो खिंचवा कर वह अपने-आपको कुत्तों, बैलों या घोड़ों की तरह बिकने या नीलाम न होने देगी। मालती के स्वभाव से आनन्दकुमार भली-भाँति परिचित थे, इसलिए उन्होंने अधिक कहना-सुनना ठीक नहीं समझा। वे तो एक तरह से आशा छोड़ ही बैठे थे; पर शकुन्तला ने उनके किसी मित्र के कैमरे से मालती का फ़ोटो लेने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेकर जैसे-तैसे उनकी परेशानी दूर की।

दोनों फ़ोटो बाबू गिरिजाशङ्कर के पास रवाना कर उन्होंने ज़रा सन्तोष की साँस ली और दूसरे ही दिन से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। समय बीतते देर ही क्या लगती है? चार दिन चार क्षणों की तरह बीत गये और पाँचवें ही दिन उनका जवाब आ पहुँचा। लिखा था—'तस्वीरों

में कुछ 'शेड' (परछाईं) आ गया है, इसलिए साफ़-साफ़ कुछ दिखाई नहीं पड़ता। अतः मैंने यही तय किया है कि अगले रविवार को आकर स्वयं ही लड़कियाँ देख लूँ। मुझे उसी दिन वापस लौटना पड़ेगा, क्योंकि परीक्षाएँ निकट होने के कारण इस समय छुट्टी मिलना असम्भव-सा है। आशा है, आप रविवार को घर पर ही रहेंगे।'

आनन्दकुमार पर जैसे पहाड़ टूट पड़ा हो। बार-बार की इन परीक्षाओं और नई-नई शर्त्तों से वे तङ्ग आ गये थे। वे चाहते थे कि जल्दी से मामला इधर या उधर तय हो जाय। व्यर्थ की आशा में लटके रहना उनके लिए असह्य हो चला था। पर करते क्या? उनकी तुनुक-मिजाज़ी से उनकी बहनों का भाग्य जो सदा के लिए अँधेरे की ओर झुक रहा था। इसमें कोई शक नहीं कि उनको इस सम्बन्ध में कम परेशान नहीं होना पड़ा था; पर जिस देश और जाति में वे पैदा हुए हैं, उसके लड़कीवालों को जो-कुछ सहना-सुनना पड़ता है, उन्हें उसके दशांश का भी अभी अनुभव नहीं हुआ था। अगर उनके पिता का असमय ही देहावसान न हो गया होता, तो शायद वे इस ज़िम्मेदारी को भूल कर भी अपने सिर न लेते। पर अब तो एक तरह की मजबूरी थी। बचाव का कोई रास्ता ही नहीं था। बेचारे ८०) रु० मासिक पर एक बीमा-कम्पनी में नौकर थे। साफ़-सफ़ेद कपड़े पहनने के आदी थे। ख़र्च भी मुश्किल से पूरा पड़ता था। ज्यों-ज्यों उनकी बहनों की उम्र बढ़ती जाती थी, उनके विवाह की उनको चिन्ता भी बढ़ती जाती थी। जब से पड़ोसियों ने इस सम्बन्ध में काना-फूसी शुरू की, तब से तो जैसे उन्हें रास्ता चलना भी मुहाल हो गया था। अपनी तरफ़ से कोशिश करने में उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी थी; पर कहीं बात पक्की ही नहीं हो रही थी। वे भी इसके लिए क्या कर सकते थे?

मालती को जब गिरिजाशङ्कर के दूसरे पत्र का हाल मालूम हुआ, तो वह मन-ही-मन बहुत कुढ़ी। जी में आया कि आनन्दकुमार से कह दे कि वे भविष्य में इस व्यक्ति से अब और अधिक पत्र-व्यवहार न करें।

पर सवाल तो उनकी चिन्ताओं, परेशानियों और ज़िम्मेदारी (कहना चाहिए बोझ) के कम होने का था। इसलिए उसे बोलने का साहस नहीं हुआ। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि आनन्दकुमार क्यों उसे अपने जी का जंजाल या सिर का भार समझ जल्दी से जल्दी ब्याह देना चाहते थे? क्या बिना विवाह के वह रह नहीं सकती थी? अपने आचार-व्यवहार से उसने कभी उन्हें शिकायत का मौक़ा तो दिया नहीं था। अपना पेट-भरने लायक़ वह कमा भी सकती थी—केवल आनन्दकुमार ही उसे ऐसा करने की आज्ञा नहीं दे रहे थे। फिर भी वह भार-स्वरूप कैसे थी? दूसरे ही क्षण उसे ध्यान आया—ओह, वह लड़की जो है, लड़की! जिसके भाग्य की चरम सीमा है पराया घर और पराया नर! अकेली वह कैसे रह सकती है? अगर रहे तो लांछित, अवांछित, अपमानित और भार होकर ही!

शकुन्तला आई और मालती से प्रणाम कर स्कूल चली गई। काले रेशम के ब्लाउज़ पर प्याज़ी रङ्ग की रेशमी साड़ी शकुन्तला के शरीर पर आज जितनी फब रही थी, पहले कभी नहीं फबी थी!—सहसा मालती के दिमाग़ में आज यह क्या बात उठ खड़ी हुई? शकुन्तला को वह रोज़ देखती थी, पर आज न-मालूम उसने उसे किन आँखों से देखा था कि उसके मन में ऐसी 'डाह' पैदा हुई? डाह इसलिए कि शकुन्तला के रूप और अर्द्ध-विकसित यौवन का लास्य देख कर उसे आज खुशी नहीं हुई। न-जाने वह आज किधर झुक रही है? मालती जानती सब-कुछ थी; पर क्या अब वह अपने-आपको उस ओर झुकने से रोक सकेगी? माना कि वह शकुन्तला की सगी बहन है; पर उसकी बहन होने से पहले वह स्त्री है, नारी है; इसे वह कैसे भूल सकती थी?

वह लता की तरह आपाद मस्तक काँप गई। उसने बहुत कोशिश की कि अपने दिमाग़ से उस भाव को निकाल दे, जिसका आभास उसे अभी-अभी कुछ समय पहले हुआ है। पर भाव या विचार आँसुओं से

नहीं डरते। रक्त का सम्बन्ध या समाज का डर भी वे नहीं जानते। और हाथ से उन्हें बाहर निकाल फेंकना सम्भव नहीं ! वे उसके दिमाग़ में ही रहे और कुछ ही समय में उनका प्रभाव विष की तरह उसके समूचे शरीर पर हो गया। तो क्या अपनी बुद्धि और होशियारी पर गर्व करने-वाली मालती स्वीकार कर ले कि आज वह स्वयं अपने से ही हार गई ? वह अपने पलँग पर उलटी जा पड़ी और तकिये में मुँह छुपा कर फफक-फफक कर रोने लगी।

जब तक मालती रोती रही, वह रोती ही रही ! और किसी बात का ध्यान उसे नहीं हुआ। पर ज्योंही उसका रोना ज़रा रुका, वह फिर अपने-आपको और शकुन्तला को जैसे एक तरह की तुलनात्मक बुद्धि से देखने लगी। अनायास उसके मस्तिष्क में एक प्रश्न उठा: अगर गिरिजा-शङ्कर ने उसके बजाय शकुन्तला को ही पसन्द किया, तब ? क्रोध से वह सहसा सिहर-सी उठी। इस प्रश्न के उत्तर की कल्पना करने तक के लिए जैसे वह तैयार न थी। उसने महसूस किया कि विवाह के नाम पर उसे इस तरह व्यर्थ अपमानित और ज़लील क्यों किया जा रहा है। इस बात के लिए उसे आनन्दकुमार पर क्रोध भी आता; पर उनकी मजबूरी का ख़याल कर वह जैसे उन्हें बख़्श देती। फिर उसका ध्यान शकुन्तला पर जाता। पर अगर शकुन्तला मालती से अधिक सुन्दर और चुलबुली है, तो इसमें उस बेचारी का क्या वश या दोष ? मालती को अपनी बुद्धि और प्रतिभा पर गर्व था; किन्तु शकुन्तला तो सिर्फ़ एक सीधी-सादी और सुन्दर रूप-रङ्गवाली लड़की-भर थी। उसका यह गुण और विशि-ष्टता ही यदि उसका दोष या क़सूर कहा जाय, तो भले ही कहा जाय।

— ४ —

गिरिजाशङ्कर आये और दोनों बहनों को देख कर उसी दिन शाम की गाड़ी से लौट गये। उन्होंने दोनों में से किसे पसन्द किया था, किसी

को भी इसकी कानों-कान ख़बर तक न हुई। स्वयं मालती और शकुन्तला को भी अपनी भाग्य-परीक्षा का नतीजा नहीं मालूम हुआ। जब पूरा एक वर्ष बीत गया, तो दोनों ने समझ लिया कि मामला फिस्स हो गया और दोनों को अभी कुछ दिन पूर्ववत् ही रहना होगा।

अगर उस दिन बाबू आनन्दकुमार अपनी मेज़ पर गिरिजाशङ्कर का पत्र न छोड़ जाते तो शायद अभी यह प्रकरण और लम्बा होता। जब वे दफ़्तर गये हुए थे, तो मालती किसी चीज़ की तलाश में उनकी बैठक में गई और तभी उसने गिरिजाशङ्कर का पत्र देखा। उसे पढ़ कर वह सन्न रह गई! लिखा था कि पूरे साल तक तो वे अटके रहे; पर अब वे नहीं रुक सकते। अगर वे अपनी बहन की शादी अब भी न करना चाहें, तो फिर चाहे जब और चाहे जहाँ करें—गिरिजाशङ्कर का उनसे कोई वास्ता नहीं।

पत्र समाप्त कर मालती सहसा काँप उठी। तो शादी तय हो चुकी है; लेकिन किस बहन की? और इतने दिनों तक आनन्दकुमार ने यह बात उसे बताई क्यों नहीं? ऐसी आख़िर क्या बात थी? तरह-तरह के प्रश्न उसके दिमाग़ में उठने लगे। पत्र पढ़ कर उसने जहाँ-का-तहाँ रख दिया।

शकुन्तला जब पढ़ कर लौटी, तो उसके चेहरे पर आज वह सरल स्वाभाविक मुस्कराहट नहीं थी, जो एक अर्से से उसका आभूषण बन चुकी थी। तो क्या इस एक साल में ही वह इतनी बदल गई थी? आज वह मालती के कमरे की तरफ़ भी नहीं गई। किताबें मेज़ पर डाल कर वह पलँग पर धम्म-से गिर पड़ी और कुछ सोचने लगी। थोड़ी देर बाद जब मालती ने उसके कमरे में प्रवेश किया, तो वह सकपका कर उठ बैठी और एक फीकी-सी मुस्कराहट के साथ आगे बढ़ते हुए बोली—"अरे जीजी, क्या बताऊँ, आज तो सिर में इतना दर्द है कि बड़ी मुश्किल से घर पहुँची हूँ। और तो क्या, तुम तक पहुँचना भी दुश्वार हो गया।"

"चल, मेरे कमरे में चल, तेरा सिर दबा देती हूँ"—कहते हुए मालती ने शकुन्तला के गले में हाथ डाला और उसे उठा कर अपने कमरे में ले गई। शकुन्तला को उसने अपने पलँग पर लिटा दिया और उसका सिर अपनी गोद में रख कर दबाने लगी। शकुन्तला ने आँखें मूँद लीं और दर्द कम होने की प्रतीक्षा करने लगी।

सहसा गरम पानी की एक बूँद उसके ललाट पर आ गिरी और दूसरे ही क्षण उसने आँखें खोल दीं और उठते हुए बोली—"एँ, तुम रो रही हो, जीजी! यह तुम्हें क्या हो गया है?"

"होना-जाना क्या है, शकुन्त?"—मालती ने अपने आँचल से आँसू पोंछते हुए कहा—"तेरे सिर में दर्द है और मेरी आँखों में, हृदय में। अपने दर्द से तेरा दर्द हल्का कर रही हूँ। तुझे आश्चर्य क्यों हो रहा है री?"

शकुन्तला की आँखें भर आईं। मालती की गोद में मुँह छिपा कर रोते हुए उसने कहा—"यह तुम कह क्या रही हो, जीजी? क्या शब्दों के द्वारा मुझसे भी छल करोगी? अपनी सगी छोटी बहन से भी?"—और उसके बिसूरने से जैसे मालती का कमरा हिल गया।

इसी समय आनन्दकुमार भी आ पहुँचे। न-मालूम कितने वर्ष बाद आज पहले-पहल उन्होंने शकुन्तला को सचमुच रोते देखा। वे अपने-आपको जैसे सँभाल न सके। पास जाकर मालती से पूछने लगे—"आज इसे हो क्या गया है?"

"कुछ भी तो नहीं"—मालती ने आँखें ऊपर उठाये बिना ही कहा—"आज इसके सिर में कुछ दर्द है।"

बिना कुछ कहे ही आनन्दकुमार कपड़े उतारने के लिए अपने कमरे की ओर चल दिये। शकुन्तला का रोना उनके आ जाने से एकदम रुक गया था। मालती ने उसका सिर तकिये पर रखा और स्वयं रसोई-घर में जा कर चाय बनाने लगी।

चाय के तैयार हो जाने पर भी जब आनन्दकुमार उधर नहीं आये, तो मालती स्वयं चाय लेकर बैठक में गई। उसे देखते ही आनन्दकुमार ने आराम-कुर्सी पर से उठते हुए कहा—"अरे! तुम ख़ुद चाय ले आईं? इतनी जल्दी आख़िर क्या थी, मैं तो उधर आ ही रहा था।"

"कोई बात नहीं, यहाँ तक आने में मैं कोई घिस थोड़े ही गई।"—मालती ने गर्दन झुकाये हुए ही कहा।

कुर्सी पर बैठ कर आनन्दकुमार चाय पीने लगे। कुछ देर बाद जब उन्होंने देखा कि मालती अभी तक जहाँ-की-तहाँ खड़ी है, तो उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ और बोले—"तुम खड़ी क्यों हो मालती, अरे बैठो न?"

"नहीं, बैठने का समय अब नहीं है। और शाम के खाने की तैयारी भी तो करनी है। आपसे कुछ कहना चाहती थी।"

"मुझसे? और उसमें इतना सङ्कोच, यह तकल्लुफ़? इतना शिष्टाचार तुममें कहाँ से आ गया, मालती? मुझसे बात कहने के लिए भी क्या अब इजाजत लेनी पड़ेगी?"

"आपको मालूम है, माँ ने मरने से पहले हमसे क्या कहा था? उसे शायद पिता जी ने भी अपनी मृत्यु-शय्या पर पड़े-पड़े दोहराया था।"

"कोई ख़ास बात थी क्या? याद तो कुछ ऐसा नहीं आ रहा है।"

"आप भूल गये, पर मुझे उनकी बात अभी भी याद है। उन्होंने कहा था कि कभी आपस में लड़ना-झगड़ना मत।"

"ओह! यह बात है। हाँ, हाँ, अब ख़याल आया। पर तब तो हम बहुत छोटे-छोटे थे न। लेकिन आज इस वक़्त तुम्हें यह बात कैसे याद आई, मालती?"

"इसलिए कि आज जीवन में पहली बार मैं आपसे लड़ना और झगड़ना चाहती हूँ।"

"अरे! मुझसे लड़ोगी, झगड़ोगी?"—कह कर आनन्दकुमार कुछ हँसे और थोड़ी देर बाद बोले—"मैं तुम्हारी बात समझा बहन, पर तुम

क्या मेरी मजबूरी को नहीं देख रही हो ? जो-कुछ मैंने किया या न किया, उसके लिए अकेला मैं ही दोषी होऊँ, ऐसी बात तो नहीं है।"

"सब-कुछ तो देख रही हूँ। पर भैया, मजबूरी छल और दुराव से क्या दूर हो सकती है ?"

"छल और दुराव कैसा, मालती ?"

"यह भी आप मेरे ही मुँह से सुनना चाहते हैं ? आज गिरिजाशङ्कर का जो पत्र आया है, उसमें क्या लिखा है ?"

इस बार आनन्दकुमार कुछ न बोले। नीचा सिर किये चुपचाप बैठे रहे।

यत्न करने पर भी मालती अपने आँसू नहीं रोक सकी। रोते हुए उसने कहा—"गिरिजाशङ्कर को यहाँ से लौटे साल-भर से ऊपर होने आया; पर आपने मुझे कभी पता भी नहीं दिया कि उन्होंने शकुन्त को पसन्द कर लिया है और आपने उनसे विवाह की स्वीकृति भी ले ली है! आपने मुझे इतनी गिरी हुई मनोवृत्ति की कैसे समझ लिया कि अगर आप मुझसे यह सब बता देते, तो मैं शायद शकुन्त—अपनी ही सगी बहन—के विवाह के मार्ग में बाधक होती या उसके सुहाग को छीन लेती ?

"तुम यह क्या कह रही हो, मालती ?"—आनन्दकुमार ने सजल नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए कहा—"मैं और तुम्हारे बारे में ऐसा सन्देह करूँगा ? यह भला तुम्हें कैसे विश्वास हो गया ? यह मेरे और तुम्हारे ही बीच की बात तो नहीं थी। समाज का डर भी तो इसमें काफ़ी अटक रहा है। तुम तो जानती हो कि समुद्र में रह कर मगर से बैर नहीं किया जा सकता। छोटी बहन का विवाह हो और बड़ी कुँवारी बैठी रहे, इसे समाज क्या सहन कर सकता है ? इसीलिए मैंने अब तक शकुन्तला के विवाह की बात किसी से भी नहीं कही। सोचता था कि इसी बीच में कहीं-न-कहीं तुम्हारे लिए भी बात-चीत पक्की हो जायगी और तब शायद दोनों की शादियाँ साथ-साथ हो सकें।"

"आपने कुछ भी सोचा हो, पर क्या आपने कभी यह भी सोचा कि समाज और दुनिया का मन रखने के लिए आप अपनी सगी बहन के गले पर छुरी चला रहे हैं ! पहले का मन आप कभी किसी भी तरह नहीं रख सकेंगे और दूसरे का मन इस तरह तोड़ देंगे कि जीवन में फिर कभी वह जुड़ ही न सकेगा।"

"मैं समझता हूँ, मैंने भारी भूल की है, मालती ! पर क्या तुम इसके लिए मुझे क्षमा नहीं कर सकोगी ?"

"क्षमा की तो इसमें कोई बात नहीं। पर आप मेरी चिन्ता छोड़ दीजिए और शकुन्त का विवाह गिरिजाशङ्कर से कर डालिए। कहीं यह लड़का भी हाथ से निकल न जाय, वर्ना आपकी चिन्ताएँ और परेशानी और बढ़ जायँगी।"

"लेकिन लोग क्या कहेंगे, मालती ! क्या दुनिया इसे लेकर तरह-तरह की बातें नहीं बनायेगी ?"

"वह बातें बनाती रहे। उसे तो बातें बनाने को कुछ-न-कुछ चाहिए ही; पर उससे डर कर कितने काम रुक सकते है ?"

मालती ने आगे बढ़ कर चाय का प्याला उठाया और रसोई-घर की ओर बढ़ते हुए बोली—"वर्ना आप मुझे इस घर में नहीं देखेंगे।"

आनन्दकुमार उठकर बैठक में टहलने लगे।

नारायणी

'सुनती हो दया, नारायणी आई है।' कहते हुए बाबू शिवकुमार ने घर में प्रवेश किया। इधर-उधर नज़र डाल कर वे रसोई-घर के सामने जा खड़े हुए। उनकी पत्नी दयावती आटा सान रही थी। पति की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखते हुए उसने पूछा—'कौन आई है।'

'अरे वही नारायणी, अपनी पुरानी नौकरानी !'

'हूँ !' कह कर दयावती ने अपना सिर हिलाया, और फिर आटा सानने में लग गई। उसके चेहरे का रंग कुछ फीका पड़ गया। दूसरे ही क्षण उसका चेहरा तमतमा उठा और नथुने फूल उठे। बिना नज़र उठाये वह बोली—'इस डायन को यहाँ आने का साहस कैसे हुआ ? मैंने तो कह दिया था कि बिना पूछे इस घर में कभी पाँव न रक्खे, वर्ना उसकी ख़ैर नहीं है।'

'लेकिन दया'—बाबू शिवकुमार ने जैसे गले में अटकी हुई कोई चीज़ नीचे उतारते हुए कहा—'वह तो मेरे ही कहने से आई है।'

'अच्छा'—दयावती ने सिर हिलाते हुए कहा—'तो यों कहिए कि आप उसे बुला कर लाये हैं ! क्यों नहीं, भला उसके बिना आपका खाना हज़म कैसे होगा ? पान लगा कर कौन खिलायगा ? जी हाँ !'

'तुम यह क्या वाहियात बातें ले बैठीं ? उस बेचारी....'

'ओफ़् बेचारी ! जी हाँ, क्यों नहीं, वह बेचारी तो एकदम दूध में धुली है न ? बड़े आये उस पर दया दिखानेवाले। मैं देखूँगी कैसे वह इस घर में....'

'दया, कभी तो अक़्ल की बात किया करो। इस तरह किसी के सिर होना ठीक नहीं। मैं कब कहता हूँ कि नारायणी दूध में धुली हुई

है। पर आखिर दुनिया में दूध में धुला हुआ है ही कौन ? तुम्हें यह आठवाँ महीना चल रहा है। अब भी अगर तुमने घर का सारा काम करना जारी रक्खा, तो न सिर्फ़ प्रसव में ही दुःख भोगना पड़ेगा, बल्कि और भी ख़राबी पैदा होने का डर है। मेरे पास न तो इतना रुपया है, न इतना समय ही कि तुम्हारी ठीक-ठीक सेवा-सुश्रूषा करा सकूँ। इसलिए यह ज़रूरी है कि अब तुम घर के काम से छुट्टी लो।'

'लेकिन क्या घर के काम के लिए नारायणी के सिवा और कोई नौकरानी नहीं मिल सकती ?'

'अरे बाबा, मिल क्यों नहीं सकती, सब मिल सकती है। पर इस समय जब कोई नहीं मिल रही है, तो उसीको रख लेने में क्या हर्ज है ? फिर जब तुम्हारे पसन्द की कोई नौकरानी मिल जाय, तो इसे निकाल कर उसे रख लेना।'

'मैंने आपसे सौ बार कह दिया कि मैं नारायणी को किसी भी हालत में रखने को तैयार नहीं हूँ। अगर और कोई नौकरानी नहीं मिलती, तो मै जैसे भी सम्भव होगा, सारा काम कर लिया करूँगी।'

'अच्छी बात है। तो अब फिर कभी मुझसे नौकरानी तलाश कर देने की बात न कहना। तुम जानो और तुम्हारा काम जाने।'

दयावती चुप रही। शिवकुमार ने इधर-उधर नज़र डाली, पर उन्हें नारायणी कहीं भी दिखाई नहीं दी। कुछ घबराये हुए-से वे बाहर आये। देखा, उनके दरवाज़े की चौखट से लगी नारायणी सिसक-सिसक कर रो रही है। उसे इस हालत में देख कर शिवकुमार पहले तो कुछ पशोपेश में पड़े, फिर साहस कर बोले—'नारायणी, तुम अभी घर जाओ। फिर जब ज़रूरत होगी, हम तुम्हें ख़बर करा देंगे। अभी तुम्हारी बहूजी का दिमाग़ ठिकाने नहीं है। पर देखो, तुम किसी बात का बुरा न मानना।'

नारायणी के मुँह से एक शब्द भी न निकला। उसी तरह सिसकती और ओढ़नी के छोर से आँसू पोंछती हुई वह चुपचाप चल पड़ी।

शिवकुमार ने उसे जाते देख कर एक ठंडी साँस ली और दरवाज़ा बन्द कर भीतर चले गये।

– २ –

रात के दो बज चुके थे। दयावती अपने नवजात शिशु को छाती से चिपटाये एक साफ़-सुथरे कमरे में पलँग पर लेटी थी और शिवकुमार पास की आराम-कुर्सी पर बैठे थे। दयावती के सिर पर हाथ फेरते हुए शिवकुमार ने पूछा—'अब कैसी तबीयत है, दया ?'

'अब तो ठीक मालूम हो रही है। हरारत शायद हो, दर्द तो अब नहीं रहा। आप सो क्यों नहीं जाते ? आपकी आँखें लाल हो रही हैं।'

'लेकिन तुम्हें अकेला छोड़ना क्या ठीक होगा ? डाक्टर ने उठने-बैठने को मना किया है और तुम इतनी संकोचशील हो कि पानी-पेशाब के लिए भी अपने मुँह से कभी कुछ नहीं कहतीं। फिर मैं निश्चिन्त होकर कैसे सो सकता हूँ ?'

दयावती कुछ नहीं बोली। आँखें बन्द किये पड़ी रही। शिवकुमार ने फिर कहना शुरू किया—'तुम्हें हर तरह समझाया कि जब तक और कोई नौकरानी नहीं मिलती, नारायणी को ही रख लो। तुम्हारी सेवा-टहल करने को तो कोई हो जायगा। पर तुम्हें तो न-मालूम मुझसे क्या दुश्मनी है कि मेरी बात मानती ही नहीं। मैं भला कब तक यह घर का काम-धन्धा देख सकता हूँ। बड़ी मिन्नत-खुशामद के बाद यह एक हफ़्ते की छुट्टी मिली है, सो परसों यह भी पूरी हो जायगी। फिर कैसे काम चलेगा ?'

'तो फिर मुझे अस्पताल में क्यों नहीं भर्ती करवा देते ?'

'रखवा तो दूँ, मगर ७) रु० रोज़ देना क्या मेरे बस की बात है ?

फिर २०-२२ दिन में तुम वहाँ रह कर भी घर का काम-काज करने लायक़ तो नहीं हो सकतीं। अभी तुम्हें कुछ दिन आराम करना चाहिए।'

'तो फिर कोई नौकरानी रख लो।'

'यही तो मैं भी कह रहा हूँ, पर कोई मिले तब न!'

'तो फिर उस नारायणी को ही रख लो, तब तक!'

'लेकिन तुम राज़ी हो जाओ तब न। तुम्हें तो न-मालूम क्यों उस बेचारी ग़रीबिनी पर भरोसा ही नहीं होता।'

'लेकिन जब और कोई नहीं मिलता, तो उसीको रख लीजिए। मैं कह जो रही हूँ।'

'न मालूम तुम्हारे मुँह से आज यह बात कैसे निकल गई? तुम तो उसके नाम से ही चिढ़ती हो। तुम्हें नाराज़ कर उसे रखना मुझे मंज़ूर नहीं।'

'यह सब कुछ नहीं, मैं अपनी ख़ुशी से कह रही हूँ कि उसे रख लीजिए। कौन जाने अब वह ठीक हो गई हो, उसमें कुछ संजीदगी आ गई हो।'

'हो सकता है; लेकिन मेरी समझ में तो तुम्हें उसके बारे में कुछ भ्रम हो गया है। वास्तव में वह इतनी बुरी नहीं है, जितना कि तुम उसे समझ रही हो। इसका दुनिया में कोई इलाज नहीं है।'

'इस समय मेरी हालत किसी बहस-मुबाहसे में पड़ने की नहीं है। पर मैं कहती हूँ कि आप उसे रख लें।'

शिवकुमार ने कुछ मुस्कराते हुए कहा—'अच्छी बात है, अगर तुम रज़ामन्द हो, तो कल से ही उसे रख लिया जायगा।'

— ३ —

दूसरे दिन से नारायणी बाबू शिवकुमार के यहाँ फिर काम करने लगी। यद्यपि दयावती ने उसे दुबारा रखने के लिए अपनी स्वीकृति दे दी थी, पर दिल से वह उससे प्रसन्न नहीं थी। उसने कभी आँख उठा कर नारायणी

की ओर नहीं देखा और न मुस्करा कर कभी कोई बात ही की। नारायणी ने मालकिन की इस अप्रसन्नता को दूर करने के लिए बहुतेरी कोशिश की, मगर उसे सफलता नहीं मिली। कई बार उसने दयावती के बच्चे को खिलाने के लिए लेना चाहा, पर मालकिन ने उसे झिड़क दिया और कभी बच्चे के हाथ न लगाने की ताकीद कर दी। नारायणी दयावती की सेवा में इतनी तत्पर रहती कि उसके बिना माँगे ही जिस चीज़ की उसे ज़रूरत होती, ले जाकर दे देती। पर दयावती तुनक कर उसे अपने सामने से हट जाने को ही कहती। नारायणी ख़ून का-सा घूँट पीकर वहाँ से हट जाती। उसे मालकिन का यह व्यवहार पसन्द नहीं था, पर चुपचाप इसे सहन करने के अलावा उसके सामने और कोई चारा ही नहीं था। कई बार उसके मन में आया कि सारी स्थिति बाबू शिवकुमार के सामने रख दे और उनसे छुट्टी माँग ले। पर दयावती के स्वभाव का ख़याल कर उसे कभी इस तरह की बात मुँह से निकालने का साहस नहीं हुआ। वह जानती थी कि दयावती इस बात को अपनी चुग़ली समझेगी और उसे घर में रहना मुश्किल कर देगी।

कई बार नारायणी ने इन सब बातों पर विचार किया, पर वह यह समझ नहीं सकी कि आख़िर उसका अपराध क्या है, जिससे दयावती को वह फूटी आँखों भी नही सुहाती? वाचालता उसका एक बड़ा दोष ज़रूर है, पर अब वह ज़बान को बहुत कुछ अपने क़ब्ज़े में रखने की चेष्टा करती है। उसका दूसरा दोष है ग़रीब घर में पैदा होकर भी असाधारण सुन्दरी होना। पर यह सर्वथा उसके वश के बाहर की बात है। उसे नहीं मालूम था कि ग़रीबी के साथ ख़ूबसूरती एक कलंक या अभिशाप हो जाती है। वह नहीं जानती थी कि लोग उससे घृणा क्यों करते हैं।

विवाह उसका ९ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था। पर उसका पति बड़ा क्रूर और शराबी था। अकारण ही वह नारायणी को बेरहमी से पीटा करता था। यह बात उसकी विधवा माँ को अच्छी नहीं लगी और

वह उसे ससुराल से लिवा लाई। तब से नारायणी ने अपने पति की और उसने नारायणी की सूरत भी नहीं देखी। यह १० वर्ष उसने माँ के साथ मेहनत-मज़दूरी करके बिता दिये। पिछले कुछ महीनों से उसकी माँ का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, अतः उसे अकेले ही मज़दूरी करने जाना पड़ता है। जवान लड़की को इस प्रकार अकेले काम पर भेजना उसे भी नहीं सुहाता; पर क्या करे, पेट का सवाल जो ठहरा। अब तो नारायणी पर न सिर्फ़ अपने बल्कि अपनी माँ के भरण-पोषण की भी ज़िम्मेदारी है।

लोगों की तरह-तरह की बातों से नारायणी के मन पर क्या बीत रही थी, इसे वही जानती थी। किसी से कुछ कहना तो आफ़त मोल लेने के समान था। फिर इस दुनिया में उसका था ही कौन, जिससे वह अपने जी की बात कहे ? बूढ़ी मां उसे अपने जीवन का भार समझती थी। अपने जामाता के अमानुषिक बर्ताव से उसने नारायणी को बचा ज़रूर लिया था, पर उसे नहीं मालूम था कि ऐसा करने के लिए वह और उसकी लड़की पास-पड़ोस और परिचित-परिजनों की निगाह में गिर जायँगी और सन्देह की पात्र बन जायँगी। वह अपना हृदय काफ़ी कड़ा बना सकती थी, पर अपनी आँखों के आगे अपनी सन्तान को रत्ती-रत्ती करके छीजता नही देख सकती थी। उसे यह बात नागवार गुज़रती थी कि आस-पास के लोग प्रायः नारायणी की ही चर्चा क्यों किया करते हैं ? क्या उनके अपने घर की बातें नही है ? पर वह किस-किसका मुँह बन्द करती ? दुनिया में ऐसे तमाशबीनों की कमी नहीं है, जिन्हें दूसरों के घर का मैल धोने में ही रस आता है।

और सब बातें उसे सह्य थीं, पर वह यह कदापि बर्दाश्त नही कर सकती थी कि कोई उसकी लड़की की तरफ़ अँगुली उठावे और उसके चरित्र पर सन्देह करे। किन्तु उसके चाहने न-चाहने से होता क्या ? लोग नारायणी के बारे में तरह-तरह की बातें उड़ाने लगे, फ़ब्तियाँ कसने लगे, ताने मारने लगे। नारायणी की माँ यह सब ज़हर के घूँट की तरह

पी जाती। पर इससे उसकी आन्तरिक अशान्ति बढ़ने लगी। उसकी बीमारी भी बढ़ने लगी। वह नारायणी पर वर्षों से नज़र रख रही थी। उसे कभी भी सन्देह की कोई बात दिखाई नहीं दी। फिर वह अपनी गोद में पली हुई उस अबोध लड़की पर सहसा अविश्वास कैसे करती ?

किन्तु दुनिया की भले और बुरे की अपनी परिभाषा है, जिसका तर्क या बुद्धि से कोई सरोकार नहीं। इस परिभाषा के अनुसार नारायणी बदचलन कही जाने लगी। शरीफ़ों के घर उसके लिए प्रायः बन्द हो चुके थे। बाबू शिवकुमार-जैसे दिमाग़ से काम लेनेवाले व्यक्ति उससे कतराते नहीं थे। पर उसे नौकर रखने के लिए उन्हें न सिर्फ़ अपनी पत्नी, दोस्तों और रिश्तेदारों को, बल्कि दफ़्तर के चपरासी तक को यह सफ़ाई देनी पड़ी थी कि दरअसल नारायणी बुरी और बदचलन नहीं है ! उन्होंने केवल उसकी ग़रीबी और असहायावस्था का ख़याल कर उसे अपने यहाँ रक्खा है। कई बार तो झुँझला कर उन्हें यहाँ तक कह देना पड़ता था कि दूसरों को आख़िर नारायणी की नेक और बदचलनी की इतनी फ़िक्र क्यों रहती है ? वह जाने और उसका काम जाने।

— ४ —

दयावती के निर्दय और कर्कश स्वर ने बाबू शिवकुमार को जगा दिया। आँखें मलते हुए वे उठ बैठे। देखा कि बच्चा चारपाई पर पड़ा-पड़ा रो रहा है और दयावती ग़ुर्रा कर नारायणी से घर के बाहर निकल जाने को कह रही है। माजरा क्या है, यह कुछ उनकी समझ में नहीं आया। बोले—'सुबह-सबेरे यह तुमने क्या झगड़ा खड़ा कर दिया ? आख़िर मामला क्या है ?'

'जी हाँ, आपको तो जैसे कुछ मालूम ही नहीं। सारा पड़ोस नाम धर रहा है। लोग तरह-तरह की बातें बना रहे हैं। सुनते-सुनते मेरे तो नाकों दम आ गया। अब यह बदनामी मुझसे नहीं सही जाती।'

'लेकिन कौन-सी बदनामी, किसकी बदनामी ?'

'किसकी क्या आप ही की। आपके क्या कान नहीं, या आप कुछ सुनते-सुनाते नहीं ? सारा शहर धिक्कार रहा है कि हमने एक बदचलन औरत को शरण देकर अच्छा नही किया और आपके कानों पर जैसे जूँ तक भी नहीं रेंगती।'

'शहर कुछ भी कहे, दया, पर हमें अपनी अक़्ल से काम लेना चाहिए। यह सरासर झूठ है।'

'तो क्या आपके सिवा और सब आदमी बेअक़्ल हैं ?'

'अच्छा, मान लो वह बदचलन है, फिर ? हमें उसके चाल-चलन से क्या लेना ? वह हमारा काम कर जाती है और पैसे ले जाती है।'

'लेना क्यों नहीं ? संगत का असर तो होता ही है। फिर समुद्र में रह कर मगरमच्छ से बैर कितने दिन तक निभ सकता है ?'

'मैं पूछता हूँ दया, तुम्हें मुझ पर या मेरी बात पर विश्वास नहीं ?'

दयावती कुछ न बोली। बाबू शिवकुमार ने फिर कहा—'तुम्हें मुझसे ज़्यादा उन ग़ैरज़िम्मेदार और बेशर्म लोगों की बात पर विश्वास है, जो बिना जाने-बूझे हर किसी के बारे में जो जी में आय बक देते हैं ? जब हमारे साथ उसने कोई बुराई नहीं की, तो हम उसे बुरा कैसे मान लें ?'

'लेकिन आप मेरी बात क्यों नहीं मानते ? मैं अपनी आँखों और कानों पर एकदम अविश्वास कैसे कर लूँ ?'

'इसका मतलब ?'

'मतलब यही कि आप पर भी वह चुड़ैल अपना जाल फैलाना चाहती है और आप भी उसकी तरफ़ झुकते नज़र आ रहे हैं।'

'यह तुम कह क्या रही हो, दया ?'

'ठीक ही कह रही हूँ। मैंने अपनी आँखों से उसे अपने हाथ से आपको पान खिलाते देखा है ! मेरे साथ वह कभी सीधे मुँह बात नहीं करती, पर आपके साथ ख़ूब हँस-हँस कर हँसी-मज़ाक़ होता है ! उसके बिना

आपके गले से जैसे कौर ही नहीं उतरता। उसके हाथ का पान खाये बिना आप दफ़्तर नहीं जा सकते! उसके हाथ से दूध पीने में आपको आध घंटा लग जाता है! फिर अगर लोग तरह-तरह की बातें बनावें, तो क्या बेजा करते हैं?'

'लोग क्या कहते हैं, इसकी मुझे परवाह नहीं, दया! पर मैं स्वप्न में भी यह नहीं समझता था कि और-और लोगों की तरह तुम भी ऐसा समझने लगोगी। मुझे नहीं मालूम था कि सन्देह की जड़ तुम्हारे दिल में इतनी गहरी चली गई है। जो-कुछ भी हो, मैं भला तुम्हारे संस्कारों को कैसे बदल सकता हूँ? अच्छी बात है, तो आज से नारायणी यहाँ काम नहीं करेगी।'

दयावती कुछ न बोली। अपनी विजय के गर्व में वह फूली न समाई। बच्चे को गोद में लेकर वह इधर-उधर टहलने लगी। नारायणी आँखों में आँसू भरे दबे पाँव वहाँ से चुपचाप चली गई। बाबू शिवकुमार या दयावती ने उससे कुछ भी नहीं कहा।

— ५ —

संगीन से संगीन जुर्म करनेवाले व्यक्तियों को भी अपराध स्वीकार करवाने के लिए इतनी कड़ी यातनाएँ नहीं दी जाती होंगी, जितनी नारायणी को दी गईं। चारों ओर की शिकायतों से परेशान होकर उसकी बुढ़िया माँ ने एक दिन नारायणी के दोनों हाथों पर चारपाई के पाये रक्खे। उनमें से एक पर वह स्वयं बैठी और दूसरे पर आटा पीसने की चक्की रक्खी। इस हालत में नारायणी को ५-६ घंटे रक्खा गया, फिर भी वह अपनी माँ के इस प्रश्न का जवाब नहीं दे सकी कि क्या वाक़ई वह बदचलन है? उसकी माँ केवल 'हाँ' या 'ना' में इसका जवाब चाहती थी, पर नारायणी के मुँह से सिसकियों के सिवा कुछ भी न निकला।

दूसरे दिन बुढ़िया ने चिमटा गरम कर नारायणी के शरीर के कई

अंग दाग़ दिये। माघ की सर्दी में उसे बिलकुल नंगा कर हाथ-पाँव बाँध कर सहन में छोड़ दिया और ऊपर चक्की का पाट रख दिया। उसकी आँखों और कई अन्य भागों में लाल मिर्चें पीस कर झोंक दी गईं। कई दिन उसे खाने को नहीं दिया गया। पीटा तो उसे इतना गया कि बुढ़िया के हाथ दुख गये। फिर भी नारायणी अपनी माँ के सवाल का जवाब नहीं दे सकी। नारायणी की इस चुप्पी ने उसकी माँ के सन्देह को और भी बढ़ा दिया। उसे रह-रह कर यही ख़याल होने लगा कि इतने लोग झूठ कैसे बोल सकते है ? और फिर दयावती-जैसी पढ़ी-लिखी और भले घराने की स्त्री भला कभी ग़लत बात कह सकती है ? फिर जवान लड़की की बात कौन जाने ?

नारायणी ने सब-कुछ सहा, पर उसका शरीर अपनी सहन-शक्ति खो बैठा। सुना गया कि वह बीमार है। बीमारी क्या है और इलाज किसका हो रहा है, यह सब हमें नहीं मालूम। कुछ दिन चारपाई पर पड़े रहने के बाद एक दिन पता चला कि वह मर गई। न-मालूम उस दिन सदाचार के कितने ठेकेदारों ने सन्तोष की साँस ली होगी !

सफाई

"अच्छा, तो अब जाता हूँ, अणिमा"—अनिल ने कुर्सी पर से उठते हुए कहा—"अपनी बातों से तुम्हें और अधिक परेशान मैं नहीं करना चाहता।"

"जाना ही है, तो आप जा सकते हैं; पर मुझ पर अपनी नाराज़गी का बोझ लाद कर क्यों जा रहे हैं ?" अणिमा ने बिना नज़र ऊपर उठाये कहा—"जिस तरह मैं आपकी बातों का बुरा नहीं मानती, उसी तरह आपको भी मेरी बातों का बुरा नही मानना चाहिए। आपके अपने विचार हैं, मेरे अपने।"

"ठीक है",—गम्भीरतापूर्वक सिर हिला कर अनिल बोला—"बुरा मैं कब मानता हूँ ? न आकर मैंने तुम पर कोई एहसान किया और न जाकर ही कोई ज़्यादती करूँगा। मुझे जाना है, इसीलिए तो जा रहा हूँ।"

"तो फिर अब कब आइयेगा ?"

"देखो, जब फ़ुर्सत मिले। वादा तो कर नहीं सकता।"

"जैसी आपकी मर्ज़ी",—कह कर अणिमा कुर्सी पीछे खिसका कर खड़ी हो गई और दोनों हाथ जोड़ कर बोली—"नमस्कार।"

"नमस्कार" कह कर द्वार की ओर बढ़ते हुए सहसा रुक कर अनिल ने कहा—"लेकिन अणिमा, अगर तुम मेरी धृष्टता के लिए क्षमा कर सको, तो जाने से पहले मैं एक बार फिर तुम्हें चेतावनी दे देना चाहता हूँ कि यहाँ के नवयुवकों से ज़्यादा मेल-जोल बढ़ाना अच्छा नहीं। यह कलकत्ता शहर जितना बड़ा है, उतनी ही बड़ी इसकी बुराइयाँ भी हैं। यहाँ फूँक-फूँक कर पाँव धरना होगा। यह नवद्वीप नहीं है।"

"आजकल मौसम बदल रहा है, इसलिए खाने-पीने का एहतियात न रखने से वैसे ही हालत ख़राब होने का अन्देशा रहता है।"

"जी हाँ, जी हाँ, बिलकुल। आप तो खुश हैं ?"

"ईश्वर की कृपा है।"

"और सुनाइए, क्या हाल-चाल हैं ?"

"कोई ख़ास तो नहीं। आज दफ़्तर की छुट्टी है, इसलिए सोचा, आपको चल कर देख ही आऊँ। घर से कई बार कहा भी, मगर आजकल काम का इतना दबाव है कि दम मारने तक की फ़ुर्सत नहीं। इसीलिए आ नहीं सका। आप तो ऐसे सङ्कोचशील हैं कि इतने दिनों से यहाँ रहने के बावजूद कभी सलाम-बन्दगी तक नहीं।"

"जी हाँ, बेशक। मुझे भी इसके लिए सख़्त अफ़सोस है। लेकिन इधर मुझे बाहर इतना ज़्यादा रहना पड़ा कि रात को १०-११ बजे से पहले कभी घर लौटा ही नहीं। उस वक़्त भला किसी शरीफ़ आदमी को क्या तकलीफ़ दी जाय ?"

"तकलीफ़ की इसमें क्या बात है ? वह घर और यह घर कोई दो थोड़े ही हैं। आप मुझे अपने बड़े भाई की जगह समझें। जब जिस चीज़ की ज़रूरत हो, आप बिला किसी झिझक या तक़ल्लुफ़ के कह सकते हैं।"

"क्यों नही, भला इसमें तक़ल्लुफ़ की क्या बात ?"

दस-दस रुपये के दो नोट जेब से निकाल कर प्रकाश को देते हुए देवकी बाबू ने कहा—"यह आपके ख़र्च के लिए हैं। मेरा अनुमान है, आपका हाथ इन दिनों काफ़ी तङ्ग होगा। फिर जब ज़रूरत पड़े, आप मुझसे निस्संकोच कह सकते हैं।"

प्रकाश ने नोटों की ओर देख कर देवकी बाबू से कहा—"लेकिन जब मुझे ज़रूरत होगी, आपसे माँग लूँगा। सच मानिये, इस वक़्त तो क़तई ज़रूरत नहीं है।"

"नहीं, यह सब कुछ नहीं; आपको इन्हें रखना ही होगा। अब मैं चलता हूँ। फिर आऊँगा।" यह कह कर देवकी बाबू उठे और चुपचाप ज़ीने की ओर चल दिये।

दो-एक क्षण चुपचाप प्रकाश सामने पड़े हुए नोटों की ओर देखता रहा। इतने में ही भय-विह्वल हरिणी की तरह इधर-उधर देखती हुई प्रेमा वहाँ आ पहुँची। नोटों को देख कर आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्नता से बोली—"ओहो, आज तो रुपये बरसे हैं, रुपये!"

"हाँ बरसे हैं। ले, ले जाकर अपने सिर पर मार ले।"—दोनों नोटों को प्रेमा के सामने फेंकते हुए प्रकाश ने कहा—"मालूम होता है तूने इनके यहाँ जाकर सारा रोना रोया है। वर्ना इन्हें कैसे मालूम कि हमारे पास खाने तक को पैसे नहीं? और न-मालूम किस मक़सद से देवकी बाबू यह रुपये दे गये हैं?"

"तुम हर वक़्त दूसरों की नीयत पर शक ही किया करते हो। मैंने तो किसी से कुछ भी नहीं कहा। वे क्या नहीं जानते कि तुम इतने दिनों से बीमार हो; काम-धन्धा भी कोई ख़ास नहीं; इसी से दे गये हैं कुछ रुपये। और उनका मक़सद क्या हो सकता है?"

कुछ देर चुप बैठे रहने के बाद प्रकाश ने कहा—"मालूम होता है, तू मुझे यहाँ भी बेफ़िक्री से नहीं रहने देगी?"

बिना कुछ जवाब दिये प्रेमा जिस दरवाज़े से आई थी, उसी में होकर दूसरे कमरे में चली गई।

– ६ –

देवकी बाबू जब दफ़्तर से लौटे, तो सुभद्रा ने उन्हें बताया कि उन पड़ोसी न मालूम कब मकान छोड़ कर चले गये? पिछले ३ महीने का किराया भी, सुनते हैं, उन्होंने नहीं दिया। मकान-मालिक के मुंह से यह जान कर उन्हें और भी आश्चर्य हुआ कि युवक का नाम प्रकाश नहीं

रामचन्द्र था, या उन्हें उसने ऐसा ही बतलाया था। उन्हें और सुभद्रा को इस बात का अफ़सोस तो हुआ कि वे प्रेमा के उद्धार के लिए कुछ भी नहीं कर सके, पर अब हो ही क्या सकता था ? उसका अपना भाग्य !

प्रेमा और प्रकाश का उन्हें फिर कोई पता नहीं लगा। कुछ दिन बाद उनकी निगाह वहीं के एक दैनिक पत्र के स्थानीय-समाचारों के कालम में छपी निम्न ख़बर पर पड़ी—

"दुराचार के ख़ानगी-अड्डों का पुलिस इन दिनों बड़ी सरगर्मी से पता लगा रही है। कल रात को उसने रामचन्द्र नाम के एक 'शरीफ़ आदमी' के घर पर छापा मारा और उसे अपनी औरत से पेशा करवाने और उसकी क़माई पर रहने के जुर्म में गिरफ़्तार किया है।"

इस तरह की ख़बरें इस कालम में वे पहले भी कई बार पढ़ चुके हैं, पर न-मालूम क्यों, आज इसे पढ़ कर वे अपने आँसू न रोक सके !

दीदी

अपने बिखरे हुए गीले बालों को दोनों हाथों में लिये तौलिये रगड़ते हुए तृप्ति आईने के सामने आ खड़ी हुई। अपनी आँखों से उर आईने में अपना चेहरा देखा और देखी उस पर छाई हुई विषाद की गह छाया। फिर उसकी निगाह सहसा अपनी आँखों पर गई। आईने ज़रा और पास जाकर उसने देखा—रात-भर के जागरण से लाल हु उसकी वे सूजी हुई-सी आँखें जैसे आग उगल रही है! न ठण्डे पानी वे छींटे उसकी आँखों की जलन दूर कर सके थे और न 'शावर-बाथ' उसवे शरीर की थकान ही।

पूरे वज़न के साथ वह आईने के सामने पड़ी हुई गद्देदार तिपाई पर बै गई और कुछ सोचने लगी। उसकी आँखे आईने में दिखनेवाली अपर्न प्रतिछाया पर लगी थी। सहसा उसका मन जैसे उसीसे पूछ बैठा—'तुभ यह हो क्या गया है, तृप्ति? तिल-तिल कर इस तरह छीजने से क लाभ? आखिर अपने जीवन को इस तरह मिट्टी में मिला कर तू क्य पा जायगी? तू अपने-आप से खुश नहीं, माँ तुझसे खुश नही, बहन भी तुझसे ख़ुश नही और दूर बैठा वह सुबोध तेरा नाम ले-ले कर जल रहा है! फिर ऐसे जीने से लाभ ही क्या?' तृप्ति की आँखें भर आई और उसके जी में आया कि यदि घर में कोई और न होता, तो वह पूरे ज़ोर के साथ दहाड़ मार कर रो पड़ती—इतने ज़ोर से कि उसके कमरे की दीवारें भी हिल उठती और छत भी फट पड़ती!

दूसरे ही क्षण जैसे अपने विक्षिप्त मन को ढाँढ़स बँधाने के लिए उस कड़ाई के साथ अपनी गर्दन तान ली और होंठों पर हल्की-सी फीकी मुस्कर हट झलकाते हुए भौंहों में तनिक बल डाल कर अपनी प्रतिछाया को देखा

उसके होंठ धीरे-धीरे हिले भी; पर मानो उसकी प्रतिछाया के अलावा उसकी बात किसी और के कानों तक नहीं पहुँच सकी।

न-मालूम आज कितने दिनों से तृप्ति इसी प्रकार अपने-आपसे लड़ती, झगड़ती, उलझती और फिर शायद जीत भी जाती है। यह जीत उसके क्षणिक सन्तोष का कारण भले ही हो जाती हो; पर सुख इससे वह कभी भी अनुभव नहीं कर सकी थी। सच पूछा जाय, तो अपने प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर वह अपने-आपसे कभी भी नहीं पा सकी थी। अज्ञात दुश्चिन्ताओं के फेर में पड़ कर आखिर क्यों वह अपने-आपको इस तरह विपथगा बना रही है, यह वह स्वयं भी ठीक-ठीक समझ नही पा रही थी।

इसी समय नौकरानी ने उसके कमरे में प्रवेश किया और एक लिफ़ाफा आगे बढ़ाते हुए कहा—"यह तुम्हारी चिट्ठी है, दीदीमोनी। अभी-अभी डाकिया दे गया है।"

बिना कुछ कहे तृप्ति ने नौकरानी के हाथ से लिफ़ाफ़ा ले लिया, और उसे खोल कर पढ़ने लगी। पत्र इस प्रकार था—
"मेरे स्वप्नों की रानी,

"अभी-अभी तुम्हारा पत्र मिला है। इसे पत्र न कह कर दुश्चिन्ताओं और आशंकाओं की एक 'जहरीली पोटली' कहना ज़्यादा ठीक होगा। इसके १०-१२ पन्नों में तुमने जो-कुछ लिखा है, उसका असर विष-बुझे बाण या साँप के डसने से किसी क़दर भी कम नही हुआ है। आश्चर्य केवल इसी बात का है कि अपनी आँखों के ज़रिये इस ज़हर को पीकर भी मैं अभी तक जीवित कैसे हूँ!

"न-मालूम क्यों, बार-बार कोशिश करने पर भी तुम्हारी बातें इधर मेरी समझ में नहीं आ रही हैं। विवाह के बारे में मेरे विचार शायद तुम्हें अब तक मालूम हो चुके होंगे। न मैं तुम्हें विलासिता की गुड़िया बना कर तुम्हारे शरीर से खेलना चाहता हूँ और न तुम्हें दासी बना कर अथ अपने-आपको पति-परमेश्वर बना कर तुमसे पुजवाना ही चाहता हूँ। विवा.

को मैं बन्धन या मजबूरी नहीं मानता। मैं तो इसे दो देहों से बढ़ कर दो आत्माओं की मैत्री या गँठबन्धन समझता हूँ। कितनी बार मैं तुम्हें विश्वास दिला चुका हूँ कि मुझसे विवाह कर लेने के बाद भी तुम्हारी स्वच्छन्दता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आ सकेगा और तुम्हारी स्वतन्त्रता में मेरी ओर से कभी किसी प्रकार की बाधा नहीं दी जायगी। ऐसी दशा में तुम्हारे मन में व्यर्थ की शंकाओं, सन्देहों और अविश्वास का पैदा होना क्या मेरे लिए अनुचित और अन्याय नहीं है ? यह भूल न जाना तृप्ति, कि किसी पर अविश्वास करना उसे सबसे बड़ा नैतिक दण्ड देना है।

"मेरे आश्वासन, आचरण और वादों के बावजूद यदि तुम्हें मुझ पर पूरा-पूरा विश्वास न हुआ हो, तो इसे मैं अपना दुर्भाग्य ही समझूँगा। तुम्हारे पचासों बार दोहराये गये विवाह करने के वादे आज भी मुझे याद हैं। तुमने मुझसे कभी अपनी परीक्षा का और कभी अपने पिता जी की बीमारी का कारण बता कर विवाह स्थगित करने का अनुरोध किया। सच मानो, मुझे एक क्षण को भी कभी यह सन्देह नहीं हुआ कि वास्तव में विवाह करने की इच्छा न होते हुए भी केवल मुझे बहकाने के लिए ही तुम झूठे बहाने बना रही हो। पर आज के तुम्हारे इस पत्र से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मुझसे विवाह करने की बात तो दूर रही, तुमने कभी मेरे और अपने बीच भाई-बहन के रिश्ते के सिवा किसी और रिश्ते की कल्पना भी नहीं की ! तब फिर मुझसे तुमने विवाह करने की बात कई बार किस लिए और क्या सोच-समझ कर कही ? क्या मैं यह मान लूँ कि अपनी बातों के परिणाम की कल्पना किये बिना ही तुम अब तक मेरे जीवन के साथ यह भयंकर खिलवाड़ करती रहीं ? तुम एक भले घर की और पढ़ी-लिखी लड़की हो तृप्ति; तुम्हीं सोचो, क्या सभ्य समाज में तुम्हारा यह व्यवहार अच्छी दृष्टि से देखा जायगा ?

"तुम्हारे पत्र की सभी बातों का उत्तर देना शायद मेरे लिए सम्भव नहीं होगा। पर एक बात का उत्तर मुझे अवश्य देना है, और मैं समझता

हूँ कि उस पर मेरा और तुम्हारा सम्भावित सम्बन्ध बहुत-कुछ निर्भर करता है। वह यह कि तुम्हारे शरीर के प्रति मेरे मन में कभी तनिक भी मोह उत्पन्न नहीं हुआ। तुम्हें हाड़ और मांस की वह नारी समझ कर मैंने प्यार नहीं किया, जो ज़मीन-जायदाद के लोभ और चाँदी के टुकड़ों से ख़रीदी, अपनाई और फिर ठुकराई जा सकती है। मैंने तुम्हें हाड़ और मांस से परे प्रेम और स्नेह की एक देवी के रूप में माना है तथा तुमसे अपने शरीर का नहीं, हृदय का सम्बन्ध जोड़ा है। इसीलिए आज मैं तुम्हारे बिना जलहीन मीन की तरह छटपटा रहा हूँ। तुम्हें कदाचित् यह बतालने की आवश्यकता नहीं कि प्रकृति ने तुम्हें वह अनिन्द्य सौन्दर्य नहीं दिया, जो रूप के लोभी भ्रमरों को तुम्हारी ओर बरबस आकृष्ट कर सके। सच मानो, इस दृष्टि से मैंने तुम्हें कभी देखा ही नहीं। यह अप्रिय सत्य आज केवल इसलिए प्रकट कर रहा हूँ कि कहीं तुम्हें मेरे या अपने बारे में किसी तरह का मुग़ालता न रहे। तुम्हारे शरीर के प्रति यदि मेरे मन में तनिक भी मोह होता, तो क्या पिछले ३ वर्षों में मेरी इस कमज़ोरी के ज़ाहिर हो सकने के कम अवसर मिले हैं? जिस अबाध स्वतन्त्रता में हम-तुम इन पाँच वर्षों तक रहे है, क्या वह हमारे बीच के मिथ्या संकोच और झिझक की सीमाओं को किसी भी समय छिन्न-भिन्न कर हमारे अधिक निकट आने में बाधक हो सकती थी? मैं तो सदा तुम्हारे स्नेहपूरित सरल एवं निश्छल हृदय का ही आराधक रहा हूँ और आज भी हूँ। तुम्हारे शरीर के प्रति आज भी मैं कोई अनुराग अपने में नहीं देखता। वह शायद कभी होगा भी नहीं। पता नही, क्यों?

"पर ख़ैर, इन बातों की चर्चा करने से अब लाभ ही क्या? यदि तुमने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया हो कि मेरे विवाह के प्रस्ताव को बेहूदा समझो और सदा दीदी के रूप में ही मुझे अपने पवित्र स्नेह का वरदान देती रहो, तो मुझे तुमसे अब और कुछ नहीं कहना है। अपने बारे में कुछ सोचने या करने के लिए मैं जितनी स्वतन्त्रता चाहता हूँ,

उतनी ही तुम्हें भी देने को तैयार हूँ। तुम पर किसी प्रकार का दबाव मैं नहीं डालना चाहता—और ऐसा करने का शायद मुझे अधिकार भी नहीं है। फिर वैसे भी मेरा तुम पर अधिकार ही क्या? मैं आखिर तुम्हारा होता कौन हूँ? तूफ़ान में उड़ कर कहीं पहुँचे हुए दो रेत-कणों की तरह हम-तुम अकस्मात् भाग्य की आँधी में उड़ते हुए मिल गये थे। मैं एक भाग्य, शिक्षा, साधन और सम्पत्ति हीन भावुक युवक और तुम सुशिक्षिता और लाखों नहीं, तो हज़ारों रुपयों की अधिकारिणी एक भाग्य-शालिनी तरुणी। हृदय को छोड़ कर मेरे और तुम्हारे सम्बन्ध का सूत्र ही क्या? तुम्हारा स्नेह पाकर मैं तुम्हारे शरीर या सम्पत्ति का लोभी शायद कभी बन सकता हूँ; पर मुझे पाकर तुम्हें क्या लाभ हो सकता है?

"जो-कुछ भी हो, विवाह के सम्बन्ध में मेरा तुम्हें यह अन्तिम पत्र है। इसे तुम मेरी कमज़ोरी समझो या पागलपन; पर मैं सच कहता हूँ कि तुम्हारे बिना मेरा जीवन उजड़ जायगा। तुम्हें छोड़ कर मैं जीवित नहीं रह सकता। अगर तुम किसी भी तरह मेरी इस प्रार्थना को स्वीकार नही कर सको, तो फिर समझ लेना कि सुबोध मर गया और फिर कभी मुझे याद करने या पत्र लिखने का कष्ट न करना। मैं भी कोशिश करूँगा कि तुम्हें भुला सकूँ और तुम्हारे विना भी अगर जीवन के कुछ दिन कट सकें, तो काटूँ।

"आशा है, तुम सानन्द होगी। माता जी से मेरा प्रणाम कहना और दोनों छोटी बहनों को मेरी ओर से प्यार करना।

सदैव तुम्हारा ही,
—सुबोध।"

– २ –

सुबोध ने अभी अपना कोट खूँटी पर टाँग कर क़दम मेज़ की तरफ़ बढ़ाया ही था कि टेलीफ़ोन की घंटी बज उठी। उसने रिसीवर उठा-कर कान से लगाया और कुर्सी पर बैठते हुए बोला—"हलो।"

—"हाँ, हाँ, मैं सुबोध ही बोल रहा हूँ। कौन, मृणाल ? कहो भाई, कैसे हो ?

—"कहो, क्या हाल-चाल हैं ?"

—"आज शाम को ? पर आख़िर कहाँ ? भला मैं भी तो सुनूँ, ऐसा क्या प्रोग्राम है ?"

—"ओह, समझा। नहीं भाई, मुझे माफ़ करो। मैं इस प्रोग्राम में तुम्हारा साथ नहीं दे सकता। जानते हो, मैं किस तबीयत और किस स्वभाव का आदमी हूँ ? जीवन में कितनी ही नीरसता और निराशा क्यों न हो, उस मार्ग का पथिक मैं नहीं बन सकूँगा। मुझे माफ़ करो, समझे। देखो, इसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं है। वैसे मेरी तबीयत भी आज कुछ ख़राब है।"—कह कर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही सुबोध ने रिसीवर टेलीफ़ोन पर रख दिया।

कुछ क्षण वह किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा बैठा न-जाने क्या-क्या सोचता रहा। फिर मेज़ का दराज़ खोल कर उसमें से एक लिफ़ाफ़ा निकाला। लिफ़ाफ़े में से तृप्ति का एक फ़ोटो आधा बाहर निकाल कर व्यंग्य और क्रोध-मिश्रित दृष्टि से वह उसे देखने लगा। इसी समय उसकी बाईं कुहनी मेज़ पर रखी घंटी से छू गई और वह टर्र-टर्र कर बज उठी। सुबोध ने अनायास चौंक कर इधर-उधर देखा और फ़ोटो को लिफ़ाफ़े में रख कर दराज़ बन्द कर दिया।

सलाम करके चपरासी उसके सामने आ खड़ा हुआ और बड़ी नम्रता से बोला—"आपने याद फ़रमाया, बाबूजी ?"

"हाँ, देखो गणेश, डाक आ गई हो, तो ज़रा ले तो आओ।"—सुबोध ने इधर-उधर मेज़ पर बिखरी हुई चीज़ों पर नज़र डालते हुए कहा। आज वह गणेश की ओर देखना नहीं चाहता था, क्योंकि ऐसा करने से शायद वह सुबोध की आँखों में उमड़े हुए आँसुओं को देख लेता और उनका कारण पूछने की ज़िद करता। बिना कुछ बोले गणेश चला

गया; पर उसके मन में यह बात उठी ज़रूर कि आज बाबू कुछ उदास दिखाई पड़ते हैं और डाक के लिए कुछ उतावले भी। न-मालूम इसमें क्या राज़ है!

डाक लाकर गणेश ने सुबोध के सामने मेज़ पर रख दी, और बिना कुछ कहे बाहर चला गया। सुबोध ने बड़ी उत्सुकता से सारी चिट्ठियों को उलट-पलट कर देखा। उसकी तेज़ी से चलनेवाली अँगुलियाँ अन्तिम चिट्ठी को पलट कर एकदम शिथिल और निर्जीव-सी हो गईं। निराशा-भरी एक हल्की-सी आह उसके मुँह से निकल गई, और उसने सारी डाक बिना किसी पत्र को खोले या पढ़े ही, ज्यों-की-त्यों रख दी।

कुछ देर वह बैठा न मालूम क्या-क्या सोचता रहा। काम करने में आज जैसे उसका जी ही नहीं लग रहा था। जिस समुद्र में उसने अपनी जीवन-नौका छोड़ दी थी, वह आज शान्त नहीं था; पर ऐसा तूफ़ान भी अभी उसमें नहीं आया था, जो उसे छिन्न-भिन्न कर देता। अपने मस्तिष्क में उठनेवाले दुश्चिन्ताओं के तूफ़ान को शान्त करने के खयाल से उसने डाक की चिट्ठियों में से एक लिफ़ाफ़ा उठाया, जिस पर ज़रा जल्दी में अंग्रेज़ी में पता लिखा हुआ मालूम होता था, और बड़ी अन्यमनस्कता से उसे फाड़ कर उसके भीतर रखी हुई चिट्ठी को निकाल कर देखने लगा। पत्र की हस्तलिपि पर नज़र पड़ते ही वह एक साथ आनन्द, आह्लाद और आशंका से सिहर उठा। पत्र के अन्त में तृप्ति के हस्ताक्षर देख कर उसका हृदय जैसे बल्लियों उछलने लगा। पर दूसरे ही क्षण जब पत्र के सम्बोधन पर उसकी नज़र गई, तो जैसे वह जल-भुन कर राख हो गया। पत्र इस प्रकार था—

"भैया,

"तुम्हारा पत्र यथासमय मिल गया था। माताजी की बीमारी के कारण उत्तर देने में ज़रा विलम्ब हो गया है। आशा है, तुम बुरा न मानोगे और इस विवशता के लिए मुझे क्षमा करोगे।

"तुम्हारी प्रार्थना को स्वीकार न करके भी मैं तुम्हें याद करने तथा यह पत्र लिखने का 'कष्ट' इसलिए कर रही हूँ कि मैं तुम्हें मरा हुआ नहीं समझ सकती ! मरनेवाले क्या मरने की बात कभी चिट्ठियों में लिखा करते हैं ? यदि वास्तव में तुम मुझे—जिस रूप में अभी इन पिछले कुछ दिनों से याद करने लगे हो—भुला सको, तो मुझे अपने जीवन की सबसे बड़ी ख़ुशी और सबसे बड़ा सन्तोष होगा। तुम शायद कल्पना न कर सको कि एक भूले और बहके हुए भाई को फिर पाकर जीवन को भार बनाकर ढोनेवाली बहन को कितनी ख़ुशी हो सकती है ? तुम मेरी इस ख़ुशी को, प्राप्त होने से पहले ही, आख़िर मुझसे छीन क्यों लेना चाहते हो, मेरे ज़िद्दी भैया ?

"अपने अभाव और मेरी सम्पन्नता का ज़िक्र कर तुमने निश्चय ही मेरे साथ ज़्यादती की है। मनुष्य की क़ीमत चाँदी-सोने के टुकड़ों में आँकने की बात लिखते समय तुम शायद यह भूल गये कि तुम यह पत्र एक भले घर की अविवाहिता लड़की को लिख रहे हो, जो पैसे से किसीको ख़रीदना या किसीके हाथ बिकना नहीं जानती; किसी बाज़ारू औरत को नहीं ! पर तुम्हारी इस नासमझी के लिए मैं बुरा नहीं मानती, क्योंकि मैं जानती हूँ कि इस समय तुम्हारे मस्तिष्क और मन की स्थिति कुछ ऐसी हो रही है कि तुम जो-कुछ लिख गये हो, उसका ठीक-ठीक अर्थ शायद तुम स्वयं भी नहीं समझते। इसीलिए तुम घृणा या तिरस्कार से अधिक दया (और कह दूँ—ममता ?) के पात्र हो। तुम्हें कैसे समझाऊँ कि नारी अपने स्नेह को—और उसकी गहराई को भी—कह कर नहीं बतला सकती ? जो उसे समझने की क्षमता नहीं रखते, उनमें और पत्थर के पुतलों में भला क्या अन्तर है ? तुम अपनी भावुकता को अनियन्त्रित और निर्बन्ध होकर विचरने दे सकते हो; पर नारी होने के नाते मैं अपनी सीमाओं से बाहर नहीं जा सकती। तुम इसे प्रमाद समझो, चाहे मर्यादा का ढोंग, या सहजबुद्धि।

"तुम मुझे अच्छी तरह समझते हो और मेरी ज़िम्मेदारियों को भी। फिर व्यर्थ ही बात का यह बतंगड़ क्यों बना रहे हो ? आज मेरी बातें तुम्हारी समझ में नहीं आतीं, वे तुम्हें ज़हर-सी लग रही हैं; यह सब मैं क्या सुन रही हूँ ? तुमने यह कैसे समझ लिया कि मैं तुम पर अविश्वास करती हूँ ? प्रथम तो अविश्वास करने की कोई बात या कारण ही नहीं; फिर अगर अविश्वास ही करती, तो तुम्हें बार-बार पत्र लिखने और इस तरह तुम्हारा नाज़ उठाने की मुझे क्या ज़रूरत थी ? जिन्हें तुम मेरी ओर से किये गये विवाह के वादे समझ रहे हो, वे दरअसल वादे नहीं थे—कभी भी नहीं। तुम्हारे दिल को न दुखाने या न तोड़ने के लिए मैंने कभी तुमसे बहुत ज़ोर देकर यह नहीं कहा कि मैं तुमसे विवाह नहीं करूँगी और न यही पूछा कि तुमने मुझे 'दीदी' कहना अकस्मात् छोड़ क्यों दिया ? एकान्त में मुझसे बातचीत करने में तुम सकुचा क्यों जाते हो ? मैंने जब-तब इस ओर इशारा ज़रूर किया और तुम्हें समझाने की कोशिश भी की है कि तुम अपने रास्ते से हटते जा रहे हो। पर तुम मेरी उन बातों का सचमुच यह अर्थ लगाओगे, इसकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। आख़िर किस लोभ या लाभ के लिए मैं तुम्हें बहकाती, ठगती या धोखे में रखती ? क्या तुम मुझे इन सबके योग्य ही समझते रहे हो ?

"आख़िर तुम मुझे इतना क्यों सता रहे हो, क्यों ज़लील कर रहे हो ? इतनी साधारण-सी बात भी तुम्हारी समझ में क्यों नहीं आती कि बहन जब तक बहन है, वह पत्नी या प्रेयसी नहीं हो सकती। ऐसा करने के लिए उसे पहले बहन का मन ही नहीं, शरीर भी त्यागना पड़ेगा। मिट्टी का बना होने पर भी यह शरीर कोई ऐसी निर्जीव चीज़ नहीं है, जिस पर आज 'बहन' का और कल 'पत्नी' का साइन-बोर्ड टाँग दिया जाय ! तुम्हारे मन में मेरे शरीर के प्रति कोई मोह उत्पन्न नहीं हुआ है, यह मैं कैसे मान लूँ ? क्या तुम्हें यह भी बतलाना होगा कि स्त्री और पुरुष का स्नेह-सम्पर्क—यदि वह बहन-भाई या पिता-पुत्री का नहीं है, तो—

हमारा कहानी-साहित्य

वोल्गासे गंगा • राहुल सांकृत्यायन • ४)

६००० ई० पू० से १९४२ तक मानव समाज के ऐतिहासिक, आर्थिक, राजनैतिक आधारों का २० कहानियों के रूप में पूर्ण चित्र। आर्य-जाति के सांस्कृतिक विकास का इतना सुन्दर कथाचित्र संसार की किसी भी भाषा में उपलब्ध नही है। इसी संग्रह की एक कहानी 'सुपर्ण यौधेय' (४२० ई०) के आधार पर राहुल जी ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'जययौधेय' की रचना की है।

सतमीके बच्चे • राहुल सांकृत्यायन • १।)

इस संग्रह में राहुल जी की १० कहानियाँ संग्रहीत हैं। ऐतिहासिक कहानी 'स्मृतिज्ञानकीर्ति' को छोड़ कर शेष सब कहानियाँ समाज के उपेक्षित और अनादृत वर्गों और मनुष्यों से संबंधित हैं। जहाँ नरकंकालों की क़ब्र पर बड़े बड़े महल खड़े हैं, वहाँ 'राजबली' जैसे अभागे बालकों की क्या गिनती! अपने ही गाँव में अपने ही परिचितों में आप देश के ये होनहार बालक देख लेंगे जो ग़रीबी, अकाल और वर्णव्यवस्था की बलि हो गये।

चतुरी चमार • 'निराला' • १।।)

कवि और उपन्यासकार के रूप में 'निराला' युग-प्रवर्तक रहे हैं, परंतु छोटी कहानियों में उनकी भाषा जैसी मुदती-खुलती है, उनका व्यंग जैसा साफ़ उतरता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी में 'परसनल' (Personal) कहानियों की कला विकसित ही नहीं हो सकी है। 'निराला' की ये सात कहानियाँ सात सजीव रेखाचित्र हैं—इनमें 'निराला' का जो व्यक्तित्व उभरता है उसे आप सहानुभूति दिये बिना नहीं रह सकते। हिन्दी के एक अमर कलाकार की नई क़लम।

किताब महल • प्रकाशक • इलाहाबाद

पाँच कहानियाँ • शरत्चंद • १॥)

शरत्चंद ने छोटी कहानियाँ बहुत नहीं लिखीं। आलोचक कहते हैं कि उनकी छोटी कहानियाँ भी उपन्यास ही हैं। परंतु इस संग्रह की कहानियों में यह दोष नही है। अनुराधा, सती, परेश, पतिदेव और एकादशी में आप औपन्यासिक शरत्चंद के एक नये रूप से परिचित होंगे।

रोटी का टुकड़ा • शिवनारायण श्रीवास्तव • १)

मज़दूरों के प्रतिदिन के जीवन की ग्यारह कहानियाँ। इन कहानियों में आपको जनता की भाषा में जनता के भावों के सफल चित्र मिलेंगे।

ख़ाली बोतल • भगवतीप्रसाद वाजपेयी • १॥)

हिन्दी के एक प्रसिद्ध जाग्रत कलाकार की दस कहानियाँ। उच्च और मध्यम वर्ग की सामाजिक विछृङ्खलता को प्रकाश में लाने वाला कथाकार यदि समाज की ह्रासोन्मुख वृत्तियों का चित्रण करता है, तो केवल लोक-हितैषण से। इन कहानियों में देखिये।

मुर्दों का गाँव • धर्मवीर भारतीय • ॥)

बंगाल के अकाल से संबंधित ८ कलात्मक कहानियाँ। कहानीकार की ये प्रथम रचनाएँ ही कथारस और कला की दृष्टि से उन्हें सर्वश्रेष्ठ कहानीलेखकों की पंक्ति में बैठा देती हैं। 'कमल और मुर्दे' और 'एक पत्र' कहानियाँ तो महाकाव्य के दो चित्र-सी लगती हैं।

टेसू के फूल • किशोर साहू मूल्य • २)

चित्रजगत् में किशोर साहू का बड़ा नाम है, परंतु उनके पहले संग्रह 'टेसू के फूल' से हिन्दी संसार उन्हें यथार्थवादी कलाकार के रूप में जानने लगा है। जीवन के छोटे-छोटे, भागते-दौड़ते क्षणों को शब्दचित्रों और स्केचों में बाँध रखने की उनकी क्षमता अद्वितीय है। 'टेसू का फूल'; पहली कहानी हमारी समाजनीति की धारणा को झकझोरती है, तो अन्य कहानियाँ हमें रोमांस, यथार्थ और चुहल के प्रवाह में बहा ले जाती हैं। किशोर साहू के ये टेसू के फूल कालानिल में उड़ नहीं जायेंगे, न फीके पड़ेंगे।

"आपकी चेतावनी के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद, अनिल बाबू,"—अणिमा ने शुष्क मुस्कराहट के साथ कहा—"पर मैं भी तो आपको विश्वास दिला चुकी हूँ कि मैं यहाँ पढ़ने आई हूँ, किसी से मेल-जोल बढ़ाने नहीं।"

"बस, बस, यही तो मेरा भी कहना है।" अनिल ख़ुश होकर विजय-गर्व से बोला।

"नहीं, आपका कहना कुछ और भी है"—अणिमा ने भौंहों में बल डालते हुए ज़रा दृढ़ता के साथ कहा—"और मैं उसका अभिप्राय भी भलीभाँति समझती हूँ। पर इस बारे में किसी तरह की बहस में नहीं करना चाहती। आप ज़रा यह समझने की कोशिश क्यों नहीं करते कि अणिमा अब अपना भला-बुरा समझने लायक़ हो गई है। न कोई बाहरी सीख उसे अच्छाई की ओर ले जा सकती है और न कोई ऐसी चेतावनी उसे बुराई से ही बचा सकती है। आप मेरे बारे में व्यर्थ ही इतने चिन्तित क्यों होते हैं?"

"अच्छी बात है, जैसा तुम चाहो, करो। मैंने अपना कर्त्तव्य पालन कर दिया। अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। अच्छा, नमस्कार"—कह कर अनिल दरवाज़े से बाहर हो गया।

"नमस्कार"—अणिमा ने यन्त्रवत् होंठ हिला कर कहा और ज्यों-की-त्यों वहीं खड़ी रही। न-मालूम उसका दिमाग़ कहाँ था और वह क्या सोच रही थी? उसकी निर्निमेष आँखें सामने खिड़की के पर्दे पर लगी थीं।

अचानक नौकरानी के कमरे में प्रवेश करने से उसकी तन्द्रा भंग हुई और पीछे पड़ी हुई कुर्सी की ओर देख, वह उस ओर बढ़ी और उस पर बैठ गई। उसकी आँखें, न-जाने क्यों, सहसा सजल हो आई थीं।

"आपने मुझे बुला भेजा था क्या, दीदीमोनी?" नौकरानी ने पूछा।

"नहीं,"—खिड़की के पर्दे की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए अणिमा ने कहा। पर दूसरे ही क्षण जैसे कुछ याद करके वह बोली—

"हाँ, देखो, ये चाय के प्याले यहाँ से उठा ले जाओ। और देखना, खाने में कितनी देर है ?"

अणिमा को भूख बहुत लगी हो, ऐसी बात नहीं थी; पर वह नौकरानी को वहाँ से जल्दी-से-जल्दी दूर हटा देना चाहती थी। इस समय उसके मस्तिष्क में विचारों का एक तूफ़ान-सा उठ रहा था।

"बहुत अच्छा"—कह कर नौकरानी चाय के प्याले लेकर चली गई।

अणिमा जहाँ-की-तहाँ बैठी रही। उसका सिर जैसे चक्कर खा रहा था। रह-रह कर उसके दिमाग़ में यही प्रश्न उठता था—पुरुष नारी को इतनी कच्ची और संदिग्ध क्यों समझता है ? यदि वास्तव में वह इतनी कमज़ोर ही है, तो फिर उसे उसने अपनी पूजा और आराधना की देवी क्यों, कैसे, बना लिया ? क्या नारी का शरीर ही सुख है, उसका सौन्दर्य ही पूज्य है—और सब कुछ भी नहीं ? उसका मन, उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व, उसकी इच्छा—यह सब क्या घृण्य, अविश्वसनीय और निन्द्य ही हैं ? आख़िर नारी 'नारी' है न, और पुरुष....!"

"खाना तैयार है, दीदीमोनी,"—नौकरानी ने आकर कहा और द्वार पर से ही लौट गई।

अणिमा उठी और रसोई-घर की ओर चल पड़ी। आज वह मन-ही-मन जैसे अपने-आपसे द्वन्द्व-युद्ध कर रही हो। दो विरोधी शक्तियाँ जैसे उसे अपनी-अपनी ओर खींच रही हों।

— २ —

ब्रजेन बाबू नवद्वीप के खासे अच्छे और प्रतिष्ठित ज़मींदार थे। उनकी और उनके कुल की उदारता और बड़प्पन की बातें आस-पास के गाँवों में किंवदन्तियों की भाँति प्रचलित थीं। कई पुश्तों से उनके कुल में लड़का नहीं होता था, इसलिए हर वार उन्हें अपने नाते-रिश्ते

का ही कोई बच्चा गोद लेना पड़ता था। जब तक कोई लड़का गोद न ले लिया जाता, न-मालूम कितने लड़कों के अभिभावक ब्रजेन बाबू के घर की परिक्रमा करते और उनकी सम्पत्ति का लेखा-जोखा करके हवाई-महल बनाते और लार टपकाते रहते थे। अपने-अपने लड़कों के भाग्य खुलने की आशा से वे भले-बुरे सभी तरह के उपायों और उपचारों से काम लेते थे।

ब्रजेन बाबू के गोद आने की इच्छा और आकांक्षा रखनेवालों की संख्या काफ़ी हो चली थी। इसका कारण था दोहरा आकर्षण—एक तो उनकी विपुल सम्पत्ति का और दूसरा, उससे भी बढ़ कर, उनकी इकलौती लड़की अणिमा के पाणि-ग्रहण का। ब्रजेन बाबू ने निश्चय कर लिया था कि इस बार वे लड़का गोद लेने की बजाय किसी को घर-जमाई के तौर पर ही रख लेंगे। अणिमा उनकी तीन पीढ़ियों में पहली सन्तान थी। इकलौती सन्तान होने के कारण न केवल ब्रजेन बाबू ही, बल्कि सारा घर और सगे-सम्बन्धी भी अणिमा को बड़ा लाड़-प्यार करते थे। अणिमा के रूप और गुणों की ख्याति दूर-दूर तक पहुँच चुकी थी। उसके विचारों और सुलझे हुए दिमाग़ के बड़े-बूढ़े तक क़ायल थे। यही वजह थी कि अणिमा की किसी भी फ़र्माइश को पूरा करने में कभी देरी, संकोच या कृपणता नहीं की गई। शायद इसीलिए अणिमा में स्वाभिमान और स्वेच्छाचार की मात्रा ज़रूरत से कुछ अधिक हो गई थी।

हाई-स्कूल की परीक्षा पास करने के बाद अणिमा उच्च-शिक्षा के लिए कलकत्ता चली आई। यद्यपि ब्रजेन बाबू को उसे अपनी आँखों से दूर करना, उच्च-शिक्षा देना और सामाजिक स्वतन्त्रता की ओर अधिक आगे बढ़ने देना पसन्द नहीं था; पर अणिमा कहीं बुरा न मान जाय, इस डर से वे अपनी झिझक और संकोच को मन-ही-मन दबाये रहते थे। पर जब से उन्हें अपने दूर के एक सम्बन्धी अनिलवरण गांगुली द्वारा अणिमा की कलकत्ते की रहन-सहन और संगत का हाल मालूम हुआ

है, वे बुरी तरह परेशान हैं, और उनकी समझ में नहीं आ रहा कि क्या करें, क्या नहीं। कई बार उनके दिमाग़ में यह बात आई कि अणिमा को कलकत्ते से वापस बुला लिया जाय। उच्च-शिक्षा के बिना क्या वह रह नहीं सकती? पर दूसरे ही क्षण उन्हें ख़याल आता कि अणिमा के लिए क्या यह बात सह्य होगी? जब अब तक उन्होंने कभी उसका दिल नहीं दुखाया, उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करके उसे नाराज़ नहीं किया, तो अब आख़िरी दिनों में व्यर्थ क्यों ऐसी बात की जाय?

ब्रजेन बाबू अणिमा की तरफ़ से अपना दिल बिलकुल साफ़ कर चुके थे। पर एक दिन एक मोटा-सा लिफ़ाफ़ा रजिस्ट्री से आया। खोलने पर उसमें से अँगरेज़ी-बँगला के कई पत्र और अजीब-अजीब क़िस्म की तस्वीरें निकलीं। साथ में अनिल गांगुली का एक पत्र भी था। ब्रजेन बाबू ने एक-एक कर सब पत्रों को पढ़ा, सब चित्रों को दो-दो तीन-तीन बार देखा और फिर उन सबको एक तरफ़ रख बड़ी देर तक कुछ सोचते रहे। फिर उन्होंने चित्रों को उठाया और चश्मे के साथ तथा बिना चश्मे के बड़े ग़ौर से एक-एक कर उन्हें देखा। फिर नौकर के द्वारा अपने कार-बारी को बुलवाया और कहा—"अणिमा को तार दे दो कि मैं सख़्त बीमार हूँ, पहली गाड़ी से चली आवे।"

कारबारी कुछ सहमा, थोड़ी देर रुका भी, जैसे कुछ जिज्ञासा करना चाह रहा हो। ब्रजेन बाबू की उदास मुखमुद्रा और बदली हुई आवाज़ ने उसे काफ़ी चौंका दिया था। उसे खड़ा देख कर ब्रजेन बाबू ने ज़रा तेज़ी से कहा—"जाते क्यों नहीं, खड़े-खड़े क्या हमारी सूरत देख रहे हो? जाओ, इसी वक़्त तार दे दो।"

कारबारी बिना कुछ बोले वहाँ से चला गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल अणिमा आ पहुँची। भय-विह्वल हरिणी की तरह इधर-उधर अशान्त दृष्टि डालती हुई वह सीधी ब्रजेन बाबू के कमरे में गई। उनके कमरे में पाँव रखते ही वह एकदम ठिठक-सी गई।

उसने देखा—वे आराम-कुर्सी पर बैठे जैसे उसके आने की प्रतीक्षा ही कर रहे थे ! देखने से मालूम नहीं होता था कि वे बीमार हैं या रहे हैं। अब तक वे अणिमा को देखते ही, आगे बढ़ कर, हर्षातिरेक से उसे गले लगा लेते थे; पर आज उसे देखकर भी वे प्रस्तर-मूर्त्ति की तरह जहाँ के तहाँ बैठे रहे। अणिमा को अपनी आँखों पर जैसे विश्वास नहीं हो रहा था। उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि सामने बैठा हुआ व्यक्ति उसका पिता ही है—वही, पिता जिसने प्रेम से उसे अपने से भी ऊँचा उठा दिया है ! आज पहली बार अणिमा ने महसूस किया कि वह अपने स्नेह और दया के आगार पिता से डर भी सकती है।

कुछ क्षण बाद जैसे उसका खोया हुआ साहस फिर लौट आया, और उसने धीरे-धीरे क़दम उठा कर ब्रजेन बाबू की ओर बढ़ते हुए कहा—"पिता जी, आपकी तबीयत कैसी है ?"

"क्यों, मुझे ज़िन्दा देख कर तुम्हें दुःख हुआ क्या, अणिमा ?" लाल-लाल सजल आँखों से अणिमा की ओर देखते हुए तीखे स्वर में ब्रजेन बाबू ने कहा।

"दुःख ? आपको ज़िन्दा देख कर और मुझे दुःख होगा !" अणिमा ने रुक कर रुँधे हुए कंठ से कहा—"यह आप क्या कह रहे हैं ? आज मैं आप में यह कैसा नाटकीय परिवर्त्तन देख रही हूँ ?"

"परिवर्त्तन कैसा, मेरी तो आज ही आँखें खुली हैं, अणिमा,"—कह कर ब्रजेन बाबू ने पास की मेज़ पर रक्खे हुए पत्र और चित्र उठा कर अणिमा के पाँवों के पास फेंक दिये और गरज कर बोले—"यह देख अपने चरित्र।"

अणिमा के होंठों पर एक हल्की-सी कँपकँपी दौड़ गई। उसने झुक कर सारे चित्र और पत्र उठा लिए और उन्हें अपने बैग में रखते हुए सजल नेत्रों से ब्रजेन बाबू की ओर देख कर फीकी मुस्कराहट के साथ कहा—"ओह, यह बात थी।" फिर कुछ रुक कर बोली—"यह बीमारी तो

आपकी वाक़ई बड़ी ख़तरनाक थी। अच्छा हुआ, जो मैं वक़्त पर पहुँच गई।"

"तुमने यह पत्र और चित्र देखे क्यों नहीं, अणिमा !"

"यह सब मैं देख चुकी हूँ।"

"देख चुकी हो ? कहाँ देख चुकी हो ? कब देख चुकी हो ? या मुझ बूढ़े को बेवक़ूफ़ बना रही हो ? मैं तुम्हारी सफ़ाई और अनिल के पत्र में पूछे गये प्रश्नों का जवाब चाहता हूँ—आज, इसी वक़्त।" ब्रजेन बाबू ने दृढ़तापूर्वक कहा।

"जवाब ? और सफ़ाई। आज ? इसी वक़्त ?"—साड़ी के छोर से अपनी आँखें पोंछ कर, फीकी हँसी हँसते हुए अणिमा ने कहा—"एक क्वाँरी हिन्दू-कन्या के पास इतने ज़बर्दस्त सबूत के बाद भला क्या सफ़ाई और जवाब हो सकता है ? पर यदि आप चाहते ही हैं, तो फिर किसी समय जवाब और सफ़ाई दोनों दूँगी। अभी तो मुझे जाने की आज्ञा दीजिए। परीक्षा के दो ही तीन दिन बाक़ी रह गये हैं। अभी मैं जाती हूँ, फिर आकर आपसे सारी बातें करूँगी।"

ब्रजेन बाबू कुछ कहें, इससे पहले ही अणिमा उनके कमरे से बाहर चली गई। वह रुकी नहीं, गाड़ी मँगवा कर सीधी स्टेशन के लिए चल पड़ी।

— ३ —

अणिमा जब अपने कमरे में पहुँची, तो देखा कि नौकरानी झाड़ू लगा रही है। उसे देखते ही बोली—"तुम आ गईं दीदीमोनी, तुम्हारी उम्र बहुत बड़ी है। अभी-अभी मैं तुम्हें याद ही कर रही थी।"

"अच्छा !"—अणिमा ने किंचित् मुस्कराहट के साथ कहा—"क्यों, आज बेवक़्त मेरी याद कैसे हो रही थी ?"

"गिरीश भैया आपसे मिलने के लिए अतिथि-गृह में एक घंटे से बैठे इन्तज़ार कर रहे हैं।" नौकरानी बोली।

"अच्छा,"—मेज़ पर अपना चेस्टर रखते हुए अणिमा ने कुछ गम्भीरता के साथ कहा और द्वार की ओर बढ़ते हुए बोली—"मैं जाकर पहले उनसे मिल आती हूँ। तब तक तू नहाने के लिए पानी गरम कर ले।"

अतिथि-गृह में पहुँच कर अणिमा ने देखा कि गिरीश एक कुर्सी पर बैठा जैसे किसी गम्भीर विवेचना में लीन है। पास पहुँच कर उसने गिरीश का अभिवादन किया और एक कुर्सी खींच कर उस पर बैठते हुए कहा—"क्षमा कीजिएगा, आपको मेरे कारण अब तक रुकना पड़ा। पिता जी की तबीयत ख़राब होने का तार पाकर मैं एक दिन के लिए नवद्वीप चली गई थी। अभी-अभी स्टेशन से आ रही हूँ।"

"कोई बात नहीं,"—गिरीश ने क्षीण स्वर में अधीरता प्रकट करते हुए कहा—"तुमसे कुछ ज़रूरी बातें करनी थीं, इसीलिए रुक गया। सोचा, फिर शायद जल्दी भेंट न हो सके।"

"क्यों? ऐसी क्या बात है?" अणिमा ने उत्सुकता के साथ पूछा।

"बात कुछ ख़ास तो नहीं है, और है भी,"—गिरीश ने एड़ी से चोटी तक अणिमा को एक प्रश्न-भरी दृष्टि से निहारते हुए कहा—"पहली बात तो यह है कि मैंने पिता जी को लिख दिया है कि इन पूजा की छुट्टियों में हमारा विवाह नहीं हो सकेगा। अभी उसे स्थगित ही रखा जाय।"

अणिमा कुछ नहीं बोली। चुपचाप फ़र्श की ओर देखती रही।

"क्यों, तुम्हारी क्या राय है?"

"मेरी राय क्या? जो राय आपकी है, वही मेरी भी है। पर अगर आप मेरी राय जानना ही चाहते हैं, तो मैं कहूँगी कि स्थगित करने के बजाय विवाह अब रद्द ही क्यों न कर दिया जाय, ताकि आप और मैं दोनों ही इस मानसिक क्लेश से बच जायँ।"

"शायद अन्ततः ऐसा ही करना पड़े; पर ऐसा करने से पहले मैं वास्तविकता की तह तक पहुँच लेना चाहता हूँ।"

"अच्छी बात है,"—कह कर अणिमा ने अपना बैग खोला और

उसमें से अपने पिता के यहाँ से लाये हुए चित्र और पत्र गिरीश को देते हुए बोली—"और यह सब भी आप ही रखिए। शायद वास्तविकता की तह तक पहुँचने में आपको इनसे भी कुछ मदद मिल सके। पिता जी के पास से मैं इन्हें लेती आई हूँ।"

पत्रों और चित्रों पर नज़र डाल कर गिरीश के चेहरे का रंग सहसा बदल-सा गया। उन्हें लेते हुए वह बोला—"यह सब क्या हैं, अणिमा ?"

"यह इन्हें देख कर आप बेहतर समझ सकेंगे।"—अणिमा ने ज़रा काँपती हुई आवाज़ में कहा—"अच्छा, मुझे अब आज्ञा दीजिए, कॉलेज का समय हो रहा है। अभी मैंने कपड़े भी नहीं बदले हैं।"

"लेकिन अणिमा,"—गिरीश ने सधी हुई आवाज़ में कहा—"मुझे शंकाओं और सन्देहों के भँवर में धकेल कर क्या तुम्हारा इस तरह चला जाना उचित है ?"

"न हो, लेकिन आपको शंकाओं और सन्देहों के भँवर में धकेलने की ज़िम्मेदारी मुझ पर कैसे है ? आप तो स्वयं उसमें कूदे हैं। हाँ, यदि मैं आपको उससे बाहर नहीं निकाल सकती, तो यह मेरी अयोग्यता, असमर्थता और उससे भी बढ़ कर मजबूरी है। पर इस समय मैं लाचार हूँ। परीक्षा से पहले मैं इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना या करना नहीं चाहती। आप मुझे क्षमा करेंगे। आपसे फिर मिलूँगी"—कहते हुए अणिमा बाहर चली गई।

गिरीश किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा द्वारकी ओर देखता रहा। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे ? कुछ क्षण वह इसी तरह बैठा रहा और न-मालूम क्या-क्या सोचता रहा। सहसा उसने घड़ी देखी और टोप उठा कर वहाँ से चल दिया।

ज्योंही अणिमा खाने के कमरे में पहुँची, उसने देखा कि आज वह अपनी सहेलियों के कुतूहल का केन्द्र बन रही है। दूर और पास खड़ी

हुई लड़कियाँ उसे देख कर होंठों-ही-होंठों में मुस्करा रही हैं और अणिमा की ओर अँगुली से इशारा कर कुछ काना-फूसी भी कर रही हैं। अणिमा पहले ही बहुत चिन्तित दिखाई पड़ रही थी, यह सब देख कर उसका चेहरा और भी पीला पड़ गया। उसका सिर चकराने लगा और उसे ऐसा मालूम होने लगा कि शायद उसे ज्वर भी हो आया है।

खाने में उसका मन नहीं लगा। जल्दी-जल्दी दो-चार कौर खा कर वह अपने कमरे में चली आई और कपड़े बदल कर कालेज चली गई।

— ४ —

दरवाज़े पर किसी के दस्तक देने की आहट पाकर अनिल उठा और जाकर दरवाज़ा खोला, तो क्या देखता है कि सामने अणिमा खड़ी है! उसे देखते ही जैसे उसकी बाँछें खिल गईं और अपनी खुशी की हँसी को दबाकर आश्चर्य प्रकट करते हुए उसने पूछा—"अरे, अणिमा! तुम, आज इधर कैसे भूल पड़ीं?"

"भूल पड़ने की क्या बात?"—अणिमा ने दरवाज़े में पाँव रखते हुए कहा—"यह क्या कोई दूसरा घर है? या मुझे यहाँ आने की मुमानियत है?"

"नहीं, नहीं, भला यह कौन कहता है?"—अनिल ने एक कुर्सी खींच कर अणिमा की ओर बढ़ाते हुए कहा—"बैठो। पर आज कैसे कष्ट किया?"

"फिर वही तकल्लुफ़ की बात!"—अणिमा ने कुर्सी पर बैठते हुए बनावटी मुस्कराहट के साथ कहा—"कष्ट करने की क्या बात? आप तो आजकल दूज के चाँद हो रहे हैं। मैंने सोचा, चलो मैं ही मिल आऊँ। अभी तक परीक्षा में फँसी थी। अब ज़रा साँस लेने की फ़ुर्सत मिली है। कहिए, सब कुशल-मंगल तो है न?"

"सब ठीक है, अणिमा!"—अनिल ने पास की कुर्सी पर बैठते

हुए कहा—"मैं वास्तव में बड़ा शर्मिन्दा हूँ कि तुम्हारी तरफ़ जा न सका। परीक्षा तो हो ही गई, अब नवद्वीप कब जा रही हो?"

"इस बार वहाँ नहीं जाऊँगी,"—अणिमा ने गम्भीर मुख-मुद्रा बना कर कहा—"वहाँ जाकर होगा भी क्या, सब तो नाराज़ हैं?"

"सब नाराज़ हैं! यह क्यों?"

"पता नहीं क्यों? इसी सम्बन्ध में आपसे कुछ ज़रूरी बातें करनी हैं। शायद हम लोग एक-दूसरे के अधिक निकट आ सकें—एक-दूसरे को भलीभाँति समझ सकें। यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो आज शाम का खाना मेरे साथ ही खाइए।"

"ज़रूर, ज़रूर; भला खाने में अपत्ति क्या होगी?" अनिल ने मुस्कराते हुए कहा—"लेकिन मैं चाहूँगा यही कि ज़्यादा अच्छा हो, अगर तुम यहीं खाना खाओ। वहाँ इन्तज़ाम करने में तुम्हें व्यर्थ तकलीफ़ होगी।"

"नहीं, नहीं, तकलीफ़ की कोई बात नहीं,"—अणिमा ने कुर्सी पर से उठते हुए कहा—"मैंने नौकरानी से सारा इन्तज़ाम करने को कह दिया है। कोई तकलीफ़ नहीं होगी। तो बस यही तय रहा। मुझे आज्ञ दीजिए, अभी ज़रा काम से कई जगह जाना है।"

"अच्छा, चलोगी?"—कुर्सी से उठते हुए अनिल ने कहा—' मैं ठीक आठ बजे पहुँच जाऊँगा। ज़्यादा कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। सादा खाना ही ठीक रहेगा।"

"बहुत अच्छा, नमस्कार"—कह कर अणिमा बाहर चली गई।

"नमस्कार"—अनिल बोला और दरवाज़ा बन्द कर अपनी जगह पर आ बैठा।

उसका चेहरा प्रसन्नता से एकदम खिल उठा था। सामने लगे हुए अपने चित्र की ओर देख कर वह धीरे से बोला—मालूम होता है इस बार तीर ठीक निशाने पर लगा है। तभी तो अब आई न दौड़ी-दौड़ी मेरे

पास। कल कहती थी—'तुम धूर्त्त हो! मैं तुमसे प्रेम करूँगी? तुमसे विवाह करूँगी? अपनी नसीहत और चेतावनी अपने पास रक्खो। मैं बच्ची नहीं हूँ!' और आज कहती है—'शायद हम लोग एक-दूसरे के अधिक निकट आ सकें—एक-दूसरे को भलीभाँति समझ सकें!' यही तो पहले मैं कहता था; पर तब तो उसकी आँखें ही पीछे थीं। मेरा मज़ाक उड़ाती थी। अब ठोकर लगी, तब कहीं अक़्ल आई। लोग सच कहते हैं कि स्त्री में अक़्ल नहीं होती। चलो ठीक ही हुआ; सुबह का भूला हुआ अगर शाम को भी घर लौट आय, तो वह भूला हुआ नहीं कहलाता। अब सब कुछ ठीक हो जायगा—सब।

— ५ —

खाना ख़त्म होने पर अणिमा ने कहा—"आज कह नहीं सकती अनिल बाबू, आपके साथ खाना खा कर मैंने किस अलौकिक आनन्द का अनुभव किया है? काश, यह आनन्द स्थायी हो सकता और हम एक-दूसरे को यावज्जीवन सुखी बना सकते?"

"हैं....एँ....!"—अनिल ने सकपका कर कहा—"यह तुम क्या कह रही हो, अणिमा?"

"कैसे बताऊँ कि मै क्या कह रही हूँ, अनिल बाबू?" अणिमा ने आवेश में आकर आर्द्र-स्वर में कहा—"आपको लेकर मैंने न मालूम किन-किन सुख-स्वप्नों की सृष्टि की थी; पर आपने ज़रा-सी नासमझी से उन सब पर पानी फेर दिया।"

अनिल पर जैसे वाक़ई घड़ों ठंडा पानी पड़ गया हो। अणिमा की सौम्य मुख-मुद्रा को निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए वह बोला—"क्यों, मुझसे कोई ग़लती हो गई है क्या, अणिमा? मैं तुम्हारा अभिप्राय ठीक-ठीक समझ नहीं सका।"

"ग़लती साधारण नहीं, बहुत बड़ी हुई है। लेकिन अब उसको समझने से लाभ ही क्या?"

"ऐसी ग़लती क्या हो सकती है ?"—अनिल ने कुछ सोचते हुए कहा—"लेकिन फिर भी सुनूँ तो, आख़िर बात क्या है ? शायद अब भी कुछ हो सके ।"

"अब होना-जाना क्या है ?"—अणिमा ने ठंडी साँस लेकर कहा—"आप अगर थोड़ी भी समझ से काम लेते, तो इतना बड़ा अनर्थ न होता और शायद हम दोनों बेखटके सुख से जीवन बिताते ।"

"लेकिन बात क्या है, साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहतीं, अणिमा !"

"अगर आप सुनना ही चाहते हैं, तो सुनिए । मैं आपसे हृदय से प्रेम करती हूँ । आपके सम्पर्क में आने के थोड़े ही दिन बाद मैंने अपने मन में आपको अपना भावी वर चुन लिया था । आप मुझसे प्रेम करने लगे, यह भी मैंने ख़ूब अच्छी तरह समझ-बूझ लिया था । लेकिन मैंने आपके प्रेम और प्रतीति की परीक्षा लेनी चाही । इसीलिए मैंने गिरीश से मेल-जोल बढ़ाना शुरू किया और आप पर इसकी प्रतिक्रिया देखने के लिए ही उसके साथ अपनी शादी पक्की होने की झूठी ख़बर भी आप तक पहुँचवाई । पर दुर्भाग्य कि आप इस परीक्षा में कच्चे निकले । आपने समझा कि सचमुच मैं गिरीश को चाहती हूँ और उससे विवाह करने जा रही हूँ । मेरी कड़ी और रूखी बातों का भी आपने बुरा माना और मेरे विरुद्ध तरह-तरह की झूठी बातें गढ़-गढ़ कर फैलानी शुरू कीं । इस हद तक तो मैं आपकी सारी बातें देखती और दर-गुज़र करती रही, पर जब आपने पिता जी और गिरीश के पास मेरे कृत्रिम भद्दे चित्र और प्रेम-पत्र भेजे, तब मुझे अपनी और आपकी ग़लती की भयंकरता महसूस हुई । परन्तु अब हो ही क्या सकता था ? तीर कमान से छूट चुका था । इधर गिरीश सारी असलियत जान कर मुझसे नाराज़ हो गया और उधर पिता जी ने मुझे दुश्चरित्र कह कर घर से निकाल दिया । उन्होंने, सुना है, किसी लड़के को गोद लेने का निश्चय कर लिया है । मुझे उनकी सम्पत्ति में से अब एक फूटी कौड़ी भी नहीं मिलेगी ।"

"ओह, यह बात है !"—अनिल ने अपने ललाट का पसीना पोंछते हुए कहा—"लेकिन दुनिया में सभी तो लखपती नहीं होते, अणिमा ! मैं पैसेवाला तो नहीं हूँ; लेकिन मेरी भूखों मरने जैसी हालत भी नहीं है। और जहाँ सच्चा प्रेम है, वहाँ धनी और निर्धन का सवाल ही नहीं उठता। हम रूखा-सूखा ही खायँ, सुख से तो रहेंगे। पर ग़लती दरअसल तुम्हारी है, अणिमा। तुमने मुझे बतला क्यों नहीं दिया कि तुम ऐसा जोखिम-भरा और मूर्खतापूर्ण प्रयोग कर रही हो। मैंने जो-कुछ किया, केवल अपने प्रेम के ठुकराये जाने के कारण तुमसे बदला लेने की भावना से ही। वह सब करके ख़ुद मुझे भी ख़ुशी नहीं हुई। पर गोली मारो उन सब बातों को। अब बताओ, तुम्हारा क्या इरादा है ?"

"मेरा इरादा तो जो पहले था, वही अब भी है। पर सोचती हूँ, आपको व्यर्थ बदनामी के कीचड़ में क्यों घसीटूँ ? मैं तो बदनाम हुई ही।"

"इसकी चिन्ता तुम मत करो। मैं सब भुगत लूँगा। और उन चीज़ों में रखा ही क्या है ? चित्र और पत्र दोनों बनावटी हैं। जिससे मैंने वे बनवाये हैं, ज़रूरत पड़ने पर उससे कहलवा भी दूँगा। तब भी क्या कोई नहीं मानेगा कि वे असली नहीं हैं ? रहे तुम्हारे पिता और गिरीश, सो उनसे हमें लेना ही क्या है ? और लोग तो चार दिन बाद सब-कुछ भूल-भाल जायँगे। मैं तो इस तरह की बातों से डरता नहीं। अगर तुम्हें बहुत ही डर हो, तो हम कलकत्ते से बहुत दूर किसी और नगर में चले चलेंगे। वहाँ हमें कौन जानेगा और बदनाम करेगा ? और हमने ऐसा किया ही क्या है कि कोई बदनाम करे। अगर मैं ही कहूँ कि मैंने जो-कुछ लिखा या कहा है, वह सब ग़लत है या सिर्फ़ अणिमा की परीक्षा या उससे बदला लेने के लिए था, तब फिर डर की बात ही क्या रह जाती है ?"

"लेकिन आप जो-कुछ कह रहे हैं, क्या वह सब लिख कर देने को भी तैयार हैं, अनिल बाबू ?"—अणिमा ने लापरवाही से हँस कर पूछा।

"बाप रे ! यह तो दूसरी परीक्षा शुरू हो गई मालूम होती है !"—अनिल ने खीसें निपोर कर कहा—"क्या कहीं अदालत में पेश करोगी उसे ?"

"नहीं, केवल याददाश्त के लिए, आपके प्रेम-चिह्न के रूप में, उसे धरोहर के रूप में अपने पास रक्खूँगी।"

"ओह, तो मेरी ज़बान पर तुम्हें इतना भी विश्वास नहीं ?"

"मुझे तो खूब विश्वास है, अनिल बाबू; इतनी कठोर परीक्षा जो कर चुकी हूँ, पर—" कह कर अणिमा कुर्सी पर से उठी और बाईं ओर के दरवाज़े की चौखट पर पड़े हुए पर्दे को हटाते हुए बोली—"इन्हें विश्वास कैसे होगा ?"

अनिल की आँखें उधर गईं और उसने देखा कि पर्दे के पीछे खड़े हुए गिरीश और ब्रजेन बाबू दोनों मुस्करा रहे हैं !

दूसरे ही क्षण अनिल की आँखों के आगे अँधेरी छा गई, और वह गश में आकर कुर्सी से नीचे गिर पड़ा !